CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

7

3.2

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महाकवि-भारवि-प्रणीतस्य

किरातार्जुनीय-महाकाव्यस्य

प्रथमः सर्गः

(मल्लिनाथीय टीका, हिन्दी अनुवाद, संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या, शब्दार्थ, व्युत्पत्ति, व्याकरणात्मक टिप्पणी, समास-विग्रह, कोश आदि सहित)

व्याख्याकार

आचार्य कृष्णकुमार अवस्थी, एम० ए०

प्रकाशन केन्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226007

(Phone : 31858)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र,
रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226007
: सर्वाधिकार (कापीराईट) प्रकाशकाधीन
मूल्य : 6.50

मुद्रक : हेलमियन्द प्रेस, इलाहाबाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Vidya Kumari

भूमिका

किरातार्जुनीयम् का महाकाव्यत्व

संस्कृत साहित्य में लघुत्रयी के नाम से रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत प्रसिद्ध हैं। वृहत्त्रयी के नाम से किरातार्जुनीयम् शिशुपालवधम् और नैषधीयचरितम् प्रसिद्ध हैं। इनमें भारवि का किरातार्जुनीयम् महाकाव्य सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण इस महाकाव्य में घटित हो जाते हैं। सर्गों की दृष्टि से यह अठारह सर्गों में विभक्त है और प्रत्येक ४५ से अधिक श्लोकों में विभक्त है। इसका कथानक महाभारत के वनपर्व से लिया गया है। धीरोदात्त आदि गुणों से सम्पन्न, सद्वंशयुक्त, क्षत्रियकुलोत्पन्न अर्जुन इसके नायक हैं। इस काव्य में प्रधान रूप से वीर रस का वर्णन है शेष शृंगार आदि रसों का भी वर्णन किया गया है—सन्धियों का भी वर्णन है। चतुर्थ सर्ग से लेकर दशम सर्ग तक षट् ऋतुओं का वर्णन, यात्रा का वर्णन, पर्वत आदि का वर्णन, सूर्योदय तथा सूर्यास्त का वर्णन उपलब्ध होता है। जलक्रीड़ा तथा रतिक्रीड़ा के मधुपान आदि का वर्णन है। अन्तिम सर्ग में फल-प्राप्ति का वर्णन है। कथा ऐतिहासिक है और दिव्य पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति इसका फल है। वर्णनीय वस्तु का प्रारम्भ निम्न श्लोक द्वारा किया गया है—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिंगी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥

सज्जनों की प्रशंसा तथा दुष्टों की निन्दा भी उपलब्ध है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्लोक वदल दिये गये हैं अर्थात् छन्द परिवर्तन कर दिया गया है। साथ ही अनुगामिनी घटना का संकेत भी कर दिया गया है। इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकाव्य के लिये जिन-जिन वस्तुओं का वर्णन लक्षणकारों ने किया है उन सव का समावेश महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य में संगठित कर दिया है। अतः उपर्युक्त आलोचना के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किरातार्जुनीयम् में महाकाव्य के सभी लक्षण प्रायः पूर्णरूपेण घटित हो जाते हैं। अतः यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठतम महाकाव्य है। इसके इसी गुण के कारण परवर्ती महाकवियों ने इस महाकाव्य का पूर्णरूपेण आश्रय लिया है। यह भी इसकी उत्कृष्टता में प्रमाण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारवि का जीवन-परिचय

भारतीय इतिहास की यह परम्परा रही है कि यहाँ के कवि, लेखक तथा विचारक आदि सभी निरीह तथा निस्पृह रहे हैं। उन्हें अपनी ख्याति की कोई चिन्ता नहीं रही है यही कारण है कि आज हमें कालिदास, भास आदि के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में कपोलकल्पित या उन्हें सत्यानुप्राणित माना जाय तो किंवदन्तियों पर आधारित रहना पड़ता है। कालिदास प्रभृति महाकवियों के समान महाकवि भारवि का भी जीवन-परिचय अन्धकारपूर्ण है। कवि ने अपने जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। अंतः इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए बाह्य प्रमाणों का आधार लेना पड़ता है। इनमें किंवदन्तियों का भी कुछ स्थान है। कुछ किंवदन्तियाँ इन्हें राजा भोज के दरबार से सम्बन्धित करती हैं और कुछ किंवदन्तियों के अनुसार भारवि अपने पिता से रुष्ट होकर ननिहाल चले गये थे। वहाँ जङ्गल में रहकर गायों को चराने का कार्य किया करते थे। इन्हीं किंवदन्तियों के आधार पर महाकवि भारवि को दण्डी का पितामह या प्रपितामह भी सिद्ध किया जाता है। एक जनश्रुति उन्हें धारा नगरी का निवासी सिद्ध करती है और उसमें माता का नाम सुशीला तथा पिता का नाम श्रीधर बताया है। इसके साथ यह भी कहा गया है कि किसी रसिका नामक कन्या के साथ उनका विवाह भी हुआ था।

इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति का उल्लेख डा० हरदत्त शास्त्री ने भी किया है कि—"एक बार उन्होंने अर्थाभाव के कारण अपनी पत्नी के द्वारा एक सेठानी के पास एक श्लोकार्ध भिजवाकर धन प्राप्त किया। उधर सेठानी ने उसे लिखवाकर अपने शयन-कक्ष में लगवा दिया। उस समय सेठानी गर्भवती थी और सेठ व्यापार के सम्बन्ध में परदेश गये थे। सेठानी को पुत्र हुआ। पन्द्रह वर्ष बाद सेठ जब परदेश से लौटे तो अपनी पत्नी के पास एक नवयुवक को सोये देखकर क्रोधवश दोनों को मार देने के लिए म्यान से तलवार निकालने लगे। तब तक उनकी दृष्टि भारवि वाले श्लोकार्ध पर पड़ी। जिसका भाव था कि 'सहसा कोई काम नहीं करना चाहिए। इसलिए सेठ ने अपनी पत्नी को जगाया। पूछने पर पता चला कि वह उन्हीं का पुत्र है। भारवि के श्लोकार्ध ने सबकी रक्षा की। इससे सेठ ने प्रसन्न होकर भारवि को अधिक धन देकर उसका दूसरा अंश भी पूर्ण करवा लिया। इसमें सत्यता का पता लगाना कठिन है। इस प्रकार अनेक जनश्रुतियाँ महाकवियों के सम्बन्ध में सुनने को मिलती हैं। उनमें मौलिकता तथा सत्यता का अन्वेषण करना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है फिर भी इसी आधार पर जीवन-परिचय चित्रित करना पड़ता है।

दक्षिण भारत से प्राप्त महाकवि दण्डीकृत 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' से भारवि की जीवन-सम्बन्धी कुछ सूचनायें प्राप्त हो जाती हैं, जिनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है। इसके अनुसार भारवि दण्डी के प्रपितामह थे परन्तु जिस पद्य के आधार पर यह माना गया है उसका पाठ विद्वानों ने अशुद्ध माना है—इस कारण वह बात मान्य नहीं है। भारवि दण्डी के प्रपितामह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के मित्र थे। इसके अनुसार भारवि के पिता का नाम नारायण स्वामी था। भारवि कवि की उपाधि थी। इनका वास्तविक नाम दामोदर था और इनका जन्म कुशिक गोत्र में हुआ था। सम्भवतः भारवि दक्षिण प्रदेश के रहने वाले थे। इसी कारण उनका सम्बन्ध दण्डी से जोड़ दिया गया। दाक्षिणात्य होने के सम्बन्ध में प्रो० आर० आर० भगवान ने किरातार्जुनीय के अठारहवें सर्ग के पाँचवें श्लोक का उद्धरण दिया है जिसके आधार पर उन्हें दाक्षिणात्य कहने का प्रयास किया गया है। यथा—

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥

चालुक्य वंशीय दक्षिणी राजा पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति के रूप में जैन कवि रविकीर्ति द्वारा रचित ऐहोल का शिलालेख भी इस बात को प्रकट करता है कि भारवि दक्षिण में अधिक प्रसिद्ध हुए। बाद को उत्तर भारत में उनकी प्रसिद्धि हुई। अतः कवि का जीवन दक्षिणीय प्रदेशों में व्यतीत हुआ है। ऐहोल के शिलालेख में कालिदास के साथ-साथ भारवि का उल्लेख किया गया है—

'येनायोजि न वश्म स्थिरमर्थविधो विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

यहाँ जैन मन्दिर का निर्माण कराने वाले रविकीर्ति की कवित्व शक्ति को कालिदास तथा भारवि के समान बताया गया है। इस कारण भारवि का दक्षिणी होना माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर महाकवि भारवि का दाक्षिणात्य होना सिद्ध हो जाता है।

भारवि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में डा० भोलाशङ्कर व्यास का कथन है कि "भारवि के जीवन-वृत्त के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। अनुमान होता है कि भारवि किसी राजा के दरबारी कवि अवश्य रहे होंगे। अवन्ति-सुन्दरीकथा के अनुसार वे पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। पर कुछ विद्वान् इसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं करते।" संस्कृतकविदर्शन, पृष्ठ १२९-३०। एन० सी० चटर्जी ने भारवि को पुलकेशिन द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन का सभापण्डित तथा त्रावणकोर का निवासी बताया है।

यह सब उपर्युक्त वर्णन केवल कल्पना तथा बाह्य परीक्षण के आधार पर ही किया जा सकता है। भारवि के सम्बन्ध में कोई अन्तरंग पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर कवि का जीवन-परिचय पुष्टरूपेण दिया जा सके। श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार इस सम्बन्ध में केवल अटकलें ही लगाई जा सकती हैं, कोई परिपक्व सिद्धान्त स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी कारण डा० हरदत्त शास्त्री ने पुष्ट-रूपेण अपना मत प्रकट किया है कि—"भारवि के जन्म-स्थान के विषय में हमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। उनके काव्य में विभिन्न स्थानों के वर्णनों का परीक्षण करके उनके जन्म-स्थान के विषय में विद्वानों ने अनेक अटकलें लगाई हैं। किस स्थान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष पर उनका जन्म हुआ था यह बताना कठिन है। हाँ, कई तथ्य ऐसे अवश्य हैं जिनके आधार पर हम स्थूल रूप में यह निर्णय कर सकते हैं कि देश के कौन से भू-भाग में उन्होंने जन्म लिया। भारवि की प्रसिद्धि बहुत काल तक दक्षिण में ही रही। दक्षिण के ऐहोल शिलालेख से भी यही ज्ञात होता है कि सप्तम शताब्दी के प्रथम चरण में ही भारवि की ख्याति दक्षिण में इतनी अधिक फैल गई थी कि उन्हें महाकवि कालिदास के साथ परिगणित किया गया। उत्तर भारत में पर्याप्त समय पश्चात् उनकी कवित्व-प्रतिभा के सम्बन्ध में लोगों को जानकारी हुई थी। इस आधार पर हम उन्हें निस्संकोच दाक्षिणात्य मान सकते हैं।" संस्कृत काव्यकार, १७७ पृ०।

भारवि का स्थितिकाल

महाकवि कालिदास के समान महाकवि भारवि का भी स्थिति-काल अनिश्चित एवं संदिग्ध है। इस महापुरुष ने अवतरित होकर अपनी काव्य-प्रतिभा से किस समय सरस्वती को मण्डित किया इस सम्बन्ध में कोई तथ्यपूर्ण प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। केवल बहिरंग प्रमाणों के आधार पर उनका स्थितिकाल स्थापित किया जाता है। इतना तो स्वतः सिद्ध है कि भारवि कालिदास के परवर्ती हैं क्योंकि भारवि की काव्य-शैली पर कालिदासीय शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर महाकवि माघ के काव्य 'शिशुपालवध' पर भारवि का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस आधार पर भारवि माघ के पूर्ववर्ती हैं। सौभाग्यवश बाह्य प्रमाणों में एक अन्य प्रमाण जो कवि के स्थिति-काल के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है वह ऐहोल का शिलालेख है। यह शिलालेख दक्षिण के चालुक्य वंशोत्पन्न महाराज पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति के रूप में जैन कवि रविकीर्ति ने लिखा था। रविकीर्ति ने अपनी काव्य-प्रतिभा को कालिदास तथा भारवि के समान बतलाते हुये अपने गौरव को प्रतिपादित किया है। जैसे—

> **येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।**
> **स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥**

इस पद्य में रविकीर्ति की कवित्व शक्ति को कालिदास तथा भारवि के समान बताया गया है। इस कवि ने किसी जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था। इसका निर्माण ६३४ ई० में कराया गया। इस शिलालेख में नाम-संकीर्तन होने के कारण यह तो सिद्ध ही हो जाता है कि ६४४ ई० तक भारवि की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में सम्यक्तया फैल चुकी थी। इस मन्दिर का निर्माण ६३४ ई० में ही कराया गया। इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, क्योंकि निर्माण काल शिलालेख पर कवि ने स्वयं अंकित करवा दिया था। वह शकाब्द है—

> **पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशताशु च।**
> **समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि इस समय तक भारवि इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे कि उनकी गणना कालिदास के साथ होने लगी थी। इस प्रसिद्धि का समय भी कुछ मानना पड़ेगा, क्योंकि उस समय आवागमन के साधनों की न्यूनता के कारण शीघ्रता के साथ चतुर्दिक् ख्याति नहीं हो पाती थी। मध्य में समय अवश्य लगता रहा होगा। यह मध्यवर्ती अवधि क्या रही होगी यही निर्णय की वस्तु है। इस प्रसिद्धि में कितने वर्षों का समय लगा होगा वही समय भारवि का रहा होगा। प्रायः इस मध्यवर्ती प्रसिद्धि का समय विद्वान् आलोचकों द्वारा एक शतक माना जाता है। उनका कहना है कि लगभग एक सौ साल के अन्दर ही इस प्रकार की ख्याति चारों ओर फैल सकती है। अतः इस शिलालेख के सौ वर्ष पूर्व अवश्य उनकी स्थिति रही होगी।

भारवि का समय निश्चित करने के लिए यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि जिन विष्णुवर्धन तथा दुर्विनीत का सम्बन्ध भारवि के साथ जोड़ा जाता है वे कौन थे और उनका समय क्या था? यदि यह कुछ निश्चित हो सके तो भारवि का समय भी कुछ न कुछ तय हो सकता है। ऊपर बताया गया है कि विष्णुवर्धन राजा पुलकेशिन द्वितीय का छोटा भाई था। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह बताया जाता है कि इसने सेनापति के रूप में हर्षवर्धन को परास्त कर गोदावरी जिले में पिष्टपुर को राजधानी बनाकर पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना ६१५ ई० में की थी।

महाकवि भारवि का समय निर्धारण करने में एक दानपत्र से भी सहायता मिलती है। यह दानपत्र दक्षिण भारत के पृथिवीकोंकण नामक किसी राजा का है। इस दानपत्र के लिखे जाने का समय शक संवत् ६९८ तदनुसार ७७६ ई० माना जाता है। इस दानपत्र से इस बात का पता चलता है कि पृथिवीकोंकण से सात पीढ़ी पहले कोई दुर्विनीत नामक पूर्वज हुआ है जिसने भारवि की किरातर्जुनीयम् के पन्द्रहवें सर्ग की टीका लिखी थी। वस्तुतः यह दुर्विनीत कोंकणी के गंगा नरेश अविनीत का पुत्र था। इसके पिता ने इससे अप्रसन्न होकर इसे समस्त राज्याधिकारों से वंचित कर दिया था। इस कारण इसने देशाटन करना प्रारम्भ कर दिया था। देश-देशान्तरों में यह अधिक समय तक घूमता रहा। सम्भवतः इसी भ्रमणकाल में दुर्विनीत ने बृहत्कथा का संस्कृत रूपान्तर 'शब्दावतार' नाम से किया और इसी ने 'किरातार्जुनीयम्' के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी। जैसा कि ज्ञात होता है "श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन..........." (पुरातत्त्वविभागीय आख्या—एम० कृष्णमाचारी) इस विषय में अपना मत निर्धारित करते हुए श्री वाचस्पति गैरौला ने अपने संस्कृत साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में कहा है "जैसा कि बताया जा चुका है उक्त दानपत्र ६९८ शक अर्थात् ७७६ ई० में लिखा गया। यदि प्रति पीढ़ी के लिये हम बीस या पच्चीस वर्ष का समय देते हैं तो राजा पृथिवीकोंकण से सात पीढ़ी पूर्व के लिए एक सौ चालीस या एक सौ पचहत्तर वर्ष कम हो जाते हैं और इस दृष्टि से राजा दुर्विनीत का समय ६०० या ६३५ ई० के लगभग बैठता है, जो उचित है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्राप्त दानपत्र के आधार पर कुछ भी हो इतना तो निर्णीत हो जाता है कि भारवि का समय पूर्व जो भी हो सकता हो परन्तु सातवीं शताब्दी के पश्चात् का तो किसी भी दशा में नहीं हो सकता। 'अवन्तिसुन्दरी' में जिन सिंहविष्णु को भारवि का आश्रय-दाता बताया गया है वह सिंहविष्णु दुर्विनीत के मित्र थे। उनका शासन काल ५७५ ई० से लेकर ६०० ई० के मध्य तक माना जाता है।

इन्हीं सिंह विष्णु ने भारवि को सम्मान प्रदान किया था। इस प्रकार महाकवि भारवि का समय षष्ठ शतक का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार के अतिरिक्त एक अन्य बहिःसाक्ष्य उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार भी भारवि के समय के सम्बन्ध में कुल पुष्ट तथ्य उपलब्ध होते हैं। वामन तथा जयादित्य ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर एक काशिका वृत्ति लिखी है। काशिका वृत्ति के मुख्य रचयिता जयादित्य हैं और इनका उल्लेख इत्सिंग ने अपने भारत यात्रा विवरण में किया है। चीनी यात्री इत्सिंग ने जयादित्य की मृत्यु का ७१८ वीं० वि० में उल्लेख किया है। जयादित्य का यह अन्तिम काल था। इसके अनुसार जयादित्य का समय विद्वानों ने ६६० ई० माना है जो कि मृत्यु का समय है। इन्होंने पाणिनि सूत्र "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" १-३-२३ की व्याख्या में "संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः" इस किरातार्जुनीयम् के तृतीय सर्ग के चौदहवें श्लोक को उद्धृत किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि जयादित्य के समय तक भारवि ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। इस ख्याति के लिए भी यदि सौ वर्षों की रेखा खींची जाय तो भारवि का समय ५६० ई० होता है।

इसी समय के प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट ने अपनी रचना हर्षचरित में अन्य कवियों का उल्लेख किया है किन्तु अपने पूर्ववर्ती भारवि का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यही हो सकता है कि इस समय तक भारवि की प्रसिद्धि संभवतः सम्पूर्ण भारत में नहीं फैल सकी थी, इसीलिए उनका उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार समस्त बाह्य साक्ष्यों के आधार पर भारवि का समय षष्ठ शताब्दी के अन्तिम चरण में मानना अनुचित न होगा। इसे स्वीकार करते हुए डा० भोला-शंकर व्यास ने भी लिखा है कि "भारवि के समय को ५५० ई० के लगभग मानने का अनुमान करते समय हम सत्य से अधिक दूर नहीं माने जा सकते"॥ सं० कवि-दर्शन॥ इसी मत का समर्थन करते हुए प्रो० ए० बी० कीथ का कथन है कि "बाह्य साक्ष्य से सिद्ध होता है कि भारवि ६३४ ई० के पूर्व हुए क्योंकि उसी समय के ऐहोल शिलालेख में कालिदास के साथ उनका उल्लेख आता है तथा काशिका वृत्ति में भी वे उद्धृत हुए हैं। दूसरी ओर वे स्पष्टतया कालिदास से प्रभावित हैं और साथ ही माघ पर भी उनका प्रभाव अत्यधिक पड़ा है। बाण ने उनका उल्लेख नहीं किया क्योंकि वे बाण के इतने अधिक पहले नहीं हुए होंगे कि उनकी प्रसिद्धिवश बाण को उनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता। अतः यह अधिक युक्तिसंगत है कि भारवि को ५०० ई० की अपेक्षा ५५० ई० के लगभग रखा जाय।" (संस्कृत साहित्य का इति-हास द्वारा प्रो० ए० बी० कीथ)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महाकवि की काव्यप्रतिभा के सौरभ को दिक् दिगन्त तक प्रसारित करने वाला एकमात्र महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' है। यह महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों के अन्तर्गत उच्चतम माना जाता है। संस्कृत साहित्य में विद्वानों ने बृहत्त्रयी परम्परा में किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् तथा नैषधीयचरितम् की गणना की है। इस गणना के आधार पर 'किरातार्जुनीयम्' का महत्त्व प्रकट होता है। इस महाकाव्य के कथानक को कवि ने महाभारत से ग्रहण करके अठारह सर्गों में अपनी प्रतिभा से पल्लवित किया है।

महाकाव्य का प्रारम्भ द्यूतक्रीड़ा में हारे हुए पाण्डवों के द्वैतवनवास से होता है। जब युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा द्रौपदी के साथ द्वैतवन में रह रहे थे तो वहाँ पर भी वे निश्चिन्त न थे। इस कारण दुर्योधन की राज्य व्यवस्था को जानने के लिए एक वनेचर को ब्रह्मचारी के वेष में भेजा था। वह लौटकर युधिष्ठिर के पास आकर दुर्योधन के शासन की पूर्ण जानकारी देता है और इस बात की ओर संकेत करता है कि द्यूतक्रीड़ा के व्याज से जीती हुई पृथिवी को वह सुयोधन नीतिपूर्वक अपने वश में करने की चेष्टा करता है "दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः" ॥१·७॥ इसके साथ वनेचर यह भी बतलाता है कि इस समय सभी राजागण उसके पक्ष में हैं और अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसकी सेवा करना चाहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बातों को स्पष्ट करके वह वनेचर चला जाता है। शत्रु के इस अभ्युदय को सुनकर द्रौपदी युधिष्ठिर का क्रोध जाग्रत करने के लिए अपनी अपमानपूर्ण स्थिति का चित्र उनके सामने प्रस्तुत करती है। यह युधिष्ठिर की शान्तिपूर्ण नीति की कटु आलोचना करती है। यह कहती है कि शान्ति से राज्य का सुख नहीं प्राप्त होता। यदि आप शान्ति को ही सुख मानते तो राज्यचिह्न धनुष आदि को त्याग कर मुनिवृत्ति को अपना लीजिए। आप समर्थ हैं। आपको समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। विजय की कामना करने वाला राजा किसी न किसी व्याज से सन्धि को तोड़ दिया करता है। इस प्रकार वह युधिष्ठिर को युद्धार्थ प्रेरित करती है ॥ प्रथम सर्ग ॥

दूसरे सर्ग में भीम आनन्दप्रद द्रौपदी की बातों का समर्थन करता हुआ कहता है कि सम्पत्तियाँ उत्साहशील व्यक्ति के ही पास रहती हैं। अनुत्साही व्यक्ति का वे सदा के लिए परित्याग कर देती हैं "निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।" २—१५ ॥ इस प्रकार युधिष्ठिर को उत्साहित करता हुआ भीम कहता है—उसके चारों भाइयों के समक्ष ऐसा कौन वीर है जो ठहर सके "प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः" २.२३ ॥ परन्तु शान्तिप्रिय युधिष्ठिर भीम की इस वाणी को सुनकर उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें उसी प्रकार शान्त कर देते हैं जैसे कि हस्तिपक दुष्ट हाथी को शान्त कर देता है "उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे।" २.२५ ॥ युधिष्ठिर ने कहा कि अकस्मात् कोई कार्य नहीं प्रारम्भ करना चाहिए। परिस्थितियाँ अनुकूल आने पर सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जब युधि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ष्ठिर भीम को समझा रहे थे उसी समय सौभाग्य से वेदव्यास वहाँ आ गये ।। द्वितीय सर्ग ।।

भगवान् वेदव्यास ने भी सुयोधन के साथ युद्ध करना आवश्यक बताया परन्तु उसके लिए युद्ध सामग्री अपेक्षित है। अतः मेरे कथनानुसार अर्जुन तपस्या द्वारा दिव्यास्त्र की प्राप्ति करें तभी युद्ध में विजय प्राप्त हो सकती है। इन्हें यक्ष तपोभूमि पर सिद्धि के लिए शीघ्र ही पहुँचा देगा। व्यास जी अर्जुन को तपोविधि से अवगत कराकर स्वयं अन्तर्धान हो गए। तभी एक यक्ष आया। गमनोद्यत अर्जुन को द्रौपदी अनेक प्रकार से समझाती हुई कहती है कि हम लोगों के लिए दुःखी मत होना और कभी भी किसी समय सहसा किसी पर विश्वास मत करना क्योंकि साधुओं के मन भी राग-द्वेष से पूर्ण होते हैं।

इस प्रकार द्रौपदी अपनी मंगलकारी शुभ कामनाओं के साथ अर्जुन को विदा करती है और वे अर्जुन यक्ष द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार अपने साधना-स्थल की ओर प्रस्थान करते हैं। उसी समय आकाश में दुन्दुभि-शब्द के साथ पुष्पवर्षा होने लगती है।। तृतीय सर्ग ।।

इन्द्रकील पर्वत की ओर गमन करते हुये अर्जुन शरद्ऋतु की शोभा को देखने में स्वयं आसक्त हो जाते हैं। कवि ने यहाँ पर शरद्ऋतु का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। यक्ष भी शरद्ऋतु के सौन्दर्य पर मुग्ध हो अर्जुन से उसका वर्णन करता है। इस प्रकार दोनों शरद्ऋतु का गुण-वर्णन करते हुये हिमालय पर्वत पर पहुँच जाते हैं ।। चतुर्थ सर्ग ।।

इस सर्ग में हिमालय का अतीव हृदयग्राही वर्णन हुआ है। यक्ष भी हिमालय का वर्णन करता हुआ इसकी रहस्यमयी स्थिति तथा शिव और पार्वती का वर्णन करता है। यहाँ पर यक्ष अर्जुन को तपस्या करने का उपदेश देता है और संयतेन्द्रिय होने का आदेश देता है।

शस्त्र धारण कर यहाँ तपस्या कीजिये। तप में अनेक विघ्न-बाधाओं के बाद सफलता मिलेगी। इस प्रकार आशीष देकर यक्ष चला जाता है ।। पंचम सर्ग ।।

हिमालय पर्वत पर पहुँचकर अर्जुन ने रमणीक इन्द्रकील पर्वत को देखा, किन्तु सुखोपभोग के मार्ग का आश्रयण न करके इन्द्रियों को अपने वश में करता हुआ तपस्या में निमग्न हो गया। अर्जुन की इस कठिन तपस्या को देखकर उस इन्द्रकील पर्वत पर रहने वाले यक्ष, वनेचर आदि अत्यन्त भयभीत हो गये और सहायता के लिए इन्द्र के पास गये। इन्द्र उन यक्षों की सहायता और उनकी परीक्षा करने के लिए गन्धर्वों तथा अमरांगनाओं को इन्द्रकील पर्वत पर जाने का आदेश देते हैं, जहाँ अर्जुन कठिन तप में निरत थे। इन्द्र का आदेश पाकर उन अंगनाओं ने विविध अलंकारों से अलंकृत होकर हाव-भाव कटाक्षों से सभी को मोहित करते, अर्जुन के पास इन्द्रकील पर्वत को प्रस्थान कर दिया ।। षष्ठ सर्ग ।।

उन गन्धर्वों तथा अमरांगनाओं के रक्षार्थ इन्द्र ने पूरा प्रयत्न किया और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाहनों के साथ सेवकों का समूह भी उसके साथ कर दिया। यहाँ पर भारवि ने अपनी काव्य-कुशलता से मार्ग में प्राप्त होने वाले कष्टों का वड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। इस प्रकार वहाँ से चलकर अंगनाओं ने मन्दाकिनी के निकट स्थान प्राप्त किया। वहाँ मन्दाकिनी तरंगों से सान्निध्य प्राप्त करके शीतल मंद सुगन्धित वायु ने अप्सराओं के मार्ग जनित क्लेश को दूर किया। अर्जुन की तपस्या में विघ्न कैसे डाला जाय इस प्रकार तर्क-वितर्क और वार्तालाप करती हुई वे इन्द्रकील पर्वत पर आकर ठहर जाती हैं। इसके अनन्तर गन्धर्व आदि वहाँ पहुँचकर सुन्दरभूमि की शोभा बढ़ाने लगे। इस प्रकार उन सबके वहाँ पहुँच जाने पर इस पर्वत की शोभा नगर की शोभा के समान हो गई।

इस रीति से इसमें इन्द्र की सेना के ठहरने आदि का अनुपम वर्णन है ॥ सप्तम सर्ग ॥

गन्धर्वों के साथ ये अप्सरायें अपने कृत्रिम प्रासादों का परित्याग करके फूल चुनने के लिये उद्यानों में निकल पड़ीं और ये देवांगनाएँ लताकुञ्जों में गन्धर्वों के साथ विहार करने लगीं। देवांगनाओं के अनेक सरस क्रीड़ा-व्यापारों का वर्णन कवि ने बड़ी सरसता के साथ किया है। यहीं पर जल-विहार के लिये वे गन्धर्वों को आमन्त्रित करती हैं। अप्सराओं तथा गन्धर्वों की जल-क्रीड़ादि का वर्णन अत्यन्त मनोज्ञ तथा हृदय को आनन्दित करने वाला है।

कवि ने जलविहार का वर्णन अनेक सुन्दर अनूठी उपमाओं द्वारा किया है जो कवि की सरसता को व्यक्त करती हैं ॥ अष्टम सर्ग ॥

उपर्युक्त सरस व्यापारों में ही पूरा दिन व्यतीत हो जाता है जिसके पश्चात् सुहावनो रात्रि आ जाती है। यहीं पर कवि ने सूर्यास्त का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। एक ओर चक्रवाकों को विरही बनाकर सूर्यास्त हो गया और दूसरी ओर चन्द्रमा अपने सौन्दर्य को विखेर कर मन्द मुस्कान के साथ सबको आनन्दित करने लगा। ऐसे मादक वातावरण में अमरवधुएँ कामार्त होकर अपने-अपने प्रियतमों के पास जाने लगीं। मानिनियों का मान भंग हो गया। वे भी रमणार्थ अपने-अपने प्रियतमों के आवास को चल पड़ीं। इस प्रकार रात्रि पर्यन्त रमण करतीं और सुरापान करती हुई प्रेमानन्द में विभोर हो गईं। इस प्रकार रात बीत गई और प्रभात हो गया। प्रभात की वायु मंद-मंद बहने लगी ॥ नवम् सर्ग ॥

इसके अनन्तर अर्जुन को अपने वश में करने के लिए विविध अलंकारों से अलंकृत होकर अमराङ्गनाएँ इन्द्रकील पर्वत की ओर चल पड़ीं। इसी समय मादकता-पूर्ण वातावरण उत्पन्न करने के लिए छः ऋतुओं को उपस्थित किया। ये छः ऋतुएँ एक साथ उपस्थित हो गयीं और शीतल मन्द सुगन्ध वायु प्रवाहित होने लगी। इस कारण अवसर समझकर अप्सराएँ अनेक हाव भाव कटाक्षों को प्रदर्शित करके नृत्य करने लगीं और गन्धर्व मृदुल वीणावादन करने लगे। परन्तु ये सभी मादकतापूर्ण उप-करण सुसंयमी अर्जुन को अपने तप से रंचमात्र भी विफल न कर सके। अर्जुन का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन विकृत न हो सका। इन सबका वर्णन कवि ने बड़े अनूठे ढंग से किया। समस्त मनोविकारक सामग्री के होते हुए भी अर्जुन विचलित न हुए।

इस प्रकार वे अर्जुन को मोहित न करके स्वयं कामपीड़ित हो गईं। फलस्वरूप वे सभी विफल होकर अपने निवास-स्थान को लौट गये ॥ दशम सर्ग ॥

अपने सेवकों के लौट जाने पर प्रसन्न होकर इन्द्र स्वयं मुनिवेश में अर्जुन के निकट आकर उनकी प्रशंसा करते तपस्विजनविरोधी शस्त्र धारण के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं कि तपस्वियों को शस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। उन्हें तो केवल आंतरिक शत्रुओं को जीतना चाहिए जो अजेय होते हैं "जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः।" ११-१२ ॥ इन्द्र की बात सुनकर अपने समस्त पूर्व वृत्त को उनसे कहते हैं और यह भी कहते हैं शत्रु-विजय का भार मुझ पर है। इसके साथ ही अपना वह अन्तिम निश्चय भी व्यक्त किया कि मैं या तो इसी पर्वत पर स्वयं नष्ट हो जाऊँगा या सफलता प्राप्त करूँगा।

अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से प्रसन्न हुए इन्द्र प्रकट होकर शिवाराधन की आज्ञा देकर अन्तर्धान हो जाते हैं ॥ एकादश सर्ग ॥

इन्द्र का आदेश प्राप्त कर प्रसन्नतापूर्वक अर्जुन शिवाराधन में तत्पर हो गये। कठोर तप के कारण अर्जुन का शरीर तेजस्वी हो गया। इस कारण उनको देखकर इन्द्र या सूर्य का भ्रम देखने वालों में होने लगा। कुछ उन्हें साक्षात् अग्नि समझने लगे। अर्जुन की इस कठिन तपस्या से प्रभावित होकर वहाँ के मुनिगण शिव से सम्पूर्ण वृत्तान्त को व्यक्त करते हैं। यहीं पर शिव अर्जुन को विष्णु का अंशावतार बताते हैं और वह भी स्पष्ट करते हैं कि संसार के कल्याणार्थ शत्रुओं के विनाश के लिये वह मेरी तपस्या कर रहा है। अर्जुन को देवकार्य का साधन समझकर मूक नाम का दैत्य वराह का वेश धारण करके अर्जुन को मारने के लिए जाता है। इस कारण अर्जुन की रक्षा के लिए शिव स्वयं किरात वेष में अपने गणों के साथ वहाँ पहुँच जाते हैं। वहाँ वराह रूपधारी मूक दानव को अर्जुन की ओर धावा करते देखकर किरातों को साथ लेकर शंकर भी उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं ॥ द्वादश सर्ग ॥

वह वराहवेषधारी मूक दानव बड़े वेग के साथ अर्जुन को मारने के लिए दौड़ता है। उसको आता हुआ देखकर अर्जुन तर्क करने लगते हैं कि इस शान्त वातावरण में यह वराह हिंसावृत्ति से मेरी ओर क्यों आ रहा है ? यह कोई दानव है और उसके अभिप्राय को समझकर अर्जुन और किरातवेषधारी शिव ने एक साथ वराह पर बाण प्रहार किया। शिव का बाण लक्ष्य को वेधकर पृथ्वी में चला गया और अर्जुन का बाण उसके शरीर में ही लगा रहा। शिव का एक अनुचर जो किरात के वेष में था वह और अर्जुन दोनों साथ-साथ बिंधे हुए तीर को लेने पहुँचे। दोनों में विवाद होता है ॥ त्रयोदश सर्ग ॥

अर्जुन ने उस किरात की गर्वपूर्ण माँग को अस्वीकार कर दिया। इसके अनन्तर वह किरातवेषधारी गण शिव के पास चला गया। तब शिव ने अपनी सेना को अर्जुन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से लड़ने के लिए भेज दिया। वे समस्त शिवगण एक साथ ही अर्जुन पर प्रहार करने लगे। अर्जुन ने भी सबका सामना करके उनके सभी शस्त्रों को विफल बना दिया। तत्पश्चात् अर्जुन भी अपना धनुष लेकर बाणों की वर्षा करने लगे जिसके फलस्वरूप किरातों की सम्पूर्ण सेना मूर्च्छित हो गयी ॥ चतुर्दश सर्ग ॥

बची हुई सेना अपने अस्त्र-शस्त्रों का परित्यागकर भागने लगी। तब शिव तथा स्वामी कार्तिकेय के भागते हुए सैनिकों को पुनः धैर्य बँधाकर एकत्र किया। इसी समय शिव और अर्जुन का भीषण संग्राम होता है। दोनों एक दूसरे पर छोड़े गये बाणों को बड़ी कुशलता से छिन्न-भिन्न कर देते हैं। यह सब कुछ होते हुए शिव ने मर्मवेधी बाणों का प्रहार अर्जुन पर नहीं किया। अर्जुन ने भी शिव के बाणों से आहत होकर अपने धैर्य का परिचय दिया। इस भयंकर युद्ध को देखकर वहाँ पर स्थित देवता तथा मुनिगण अत्यन्त भयभीत हो उठे ॥ पंचदश सर्ग ॥

किरातवेषधारी शिव की रणकुशलता को देखकर अर्जुन अत्यन्त विस्मित हो उठे। अतः अर्जुन ने अपना दिव्यास्त्र चलाया जिसके प्रभाव से सेना मूर्च्छित हो गई और सर्वत्र अन्धकार छा गया। शिव ने भी अस्त्र-शस्त्रों से उन सभी दिव्यास्त्रों को खण्डित कर दिया। अर्जुन ने क्रमशः नागपाश तथा आग्नेयास्त्रों का प्रयोग किया परन्तु किरातवेषधारी शिव ने उनके अस्त्रों को क्रमशः गरुड़ास्त्र तथा वरुणास्त्र से निष्फल बना दिया। इस प्रकार अपने अलौकिक अस्त्रों को व्यर्थ होता जानकर शिव के साथ अर्जुन ने मल्ल युद्ध करने का निश्चय किया।

क्रोध में आकर अर्जुन फिर अपना गाण्डीव धनुष लेकर युद्ध करने लगते हैं। अर्जुन की बाण वर्षा से शिव की सम्पूर्ण सेना भयभीत हो उठती है। इस कारण शिव भी अपना धनुष उठाकर युद्ध करने लगते हैं और अर्जुन के तूणीर के समस्त बाणों को कवच तथा धनुष के साथ खड्ग को भी खण्डित कर देते हैं। कवचहीन अर्जुन को मर्मवेधी बाणों से व्यथित कर देते हैं। तब अर्जुन सर्वथा अस्त्र-शस्त्र रहित होकर पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानों तथा वृक्षों को शिव-सेना पर फेंकने लगते हैं किन्तु इससे भी किसी प्रकार की सफलता नहीं मिलती ॥ सप्तदश सर्ग ॥

शस्त्रविहीन अर्जुन ने शिव के साथ मल्ल युद्ध प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम मुष्टि-युद्ध प्रारम्भ किया, वही पीछे मल्ल-युद्ध में परिवर्तित हो गया। दोनों ने भयंकर युद्ध से उत्पन्न भयानक ध्वनि से पर्वत-कन्दराओं को आपूरित कर दिया। दोनों रक्त से इस प्रकार सने हुए थे कि किसी को पहचानना असम्भव-सा हो गया था। इसी समय युद्ध करते हुए शिव आक्रमण करने की इच्छा से ऊपर को उछलते हैं तो पराजित करने की अभिलाषा से अर्जुन ऊपर ही उनके पैरों को पकड़ लेते हैं जिससे शिव प्रसन्न होकर किरात-वेष त्याग कर अर्जुन को गले लगा लेते हैं। शिव के रूप को देखकर अर्जुन नतमस्तक हो उनकी स्तुति करने लगते हैं। इसी समय स्वतः अर्जुन का शरीर बाण, कवच आदि से युक्त हो जाता है। उसी समय अर्जुन से प्रसन्न होकर शिव उन्हें पाशु-पतास्त्र प्रदान कर धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान करते हैं तथा शिव की आज्ञा से इन्द्र आदि भी अर्जुन को दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं। अन्त में अपनी सम्पूर्ण मनःकामना के पूर्ण हो जाने पर अर्जुन शिव के आदेश से युधिष्ठिर के निकट आ जाते हैं ॥ अष्टादश सर्ग ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किरातार्जुनीयम्

प्रथमः सर्गः

घण्टापथ—

अर्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत् ।
पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥१॥
आलम्बे जगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम् ।
शुष्यन्ति यद्रजः स्पर्शाद् सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥२॥
तद्दिव्यममृतं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः ॥३॥
वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥४॥
मल्लिनाथः कविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥५॥
नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥६॥
नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्तं
साशङ्कचंक्रमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे
घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥ ७॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ तत्र भवान् भारविनामा कविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ।' इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्य अनेकश्रेयःसाधनतां 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति निषेधशास्त्रस्य असत्यकाव्यविषयताञ्च पश्यन् किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुं चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च, वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूपं वस्तु निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिंगी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१॥

अन्वय—कुरूणाम् अधिपस्य, श्रियः पालनीम्, प्रजासु वृत्तिम्, वेदितुम् यम् अयुङ्क्त, स वर्णिलिङ्गी विदितः वनेचरः द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ ॥१॥

वाच्यान्तरम्—कुरूणामधिपस्य श्रियः पालनीम् प्रजासु वृत्तिम् वेदितुम् यः अयुज्यत तेन वर्णिलिङ्गिना विदितेन वनेचरेण द्वैतवने युधिष्ठिर समायये ॥

श्रिय इति । आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नात्यतीवोपयुज्यते । तदुक्तम्-'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' इति ॥ कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः 'तस्य निवासः' इत्यण् प्रत्ययः । जनपदे लुप् । तेषामधिपस्य सम्बन्धिनीम् । शेषे षष्ठी । श्रियो राजलक्ष्म्याः । 'कर्तृकर्मणोः-कृतिः' इति कर्मणि षष्ठी । पाल्यतेऽनयेति पालनीताम् । प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः । प्रजारागमूलत्वात्संपद इति भावः । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः । वृत्तिं व्यवहारं ज्ञातुं यं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान् । वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति । वर्णी ब्रह्मचारी । तदुक्तम्—स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ।' एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः । वर्णात् ब्रह्मचारिणि इति इनिप्रत्ययः । तस्य लिंगं चिह्नमस्यास्तीति 'वर्णिलिङ्गी' ब्रह्मचारिवेषवान् इत्यर्थः । स नियुक्तः वने चरतीति वनेचरः किरातः । 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः । चरेष्टः इति ट प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । विदित वेदनमस्यास्तीति विदितः परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इयत्च् प्रत्ययः उभयत्रापि । 'पीताः गावः' 'भुक्ताः ब्राह्मणाः' 'विभक्ताः भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वम् । न तु कर्तरि क्तः सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अतएव भाष्यकारः अकारो मत्वर्थीयः । विभक्तमेषास्तीति 'विभक्ताः' पीतमेषास्तीति 'पीताः' इति सर्वत्र । अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । विभक्तधनाः विभक्ताः पीतोदकाः पीताः इति । अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यार्थस्य प्रयोग एव लोपोऽभिमतः । विभक्ताः भ्रातरः इत्यत्र च धनस्य यद् विभक्तत्वं तद् भ्रातृषूपचरितम् । पीतोदकाः गावः इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोप्यते इति। तद्वत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उपचर्यते। एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्' "पातुं न प्रथमं व्यवस्यति: जलं युष्मास्वपीतेषु या" एवमादयो व्याख्याताः। अथवा विदितवान्। सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि क्तः। यथा 'आशितः कर्त्ता' इत्यादौ। यथाहुः—धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात्। प्रसिद्धेरविवाक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया। इति द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने। यद्वा द्वे इते यस्मात् तद् द्वैतम्। तच्च तद्वनं च तस्मिन्। शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः। युधि रणे स्थिरं युधिष्ठिर धर्मराजम् "हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्" इत्यलुक्। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः, इति पत्वम्। समाययौ प्राप्तवान्। अत्र वने वनेचरः इति द्वयोः स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकदैवावृत्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः। अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम्। तल्लक्षणम् "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति ॥ १ ॥

अर्थ—कुरुराज राजा दुर्योधन की प्रजापाल-पद्धति को जानने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने जिस वनेचर को नियुक्त किया था, वह ब्रह्मचारी का वेश धारण करने वाला वनेचर वहाँ के सम्पूर्ण समाचार को जानकर द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास पुनः वापस लौट आया।

व्याख्या—कुरूणाम्=कुरुसंज्ञकभूपनिवासस्थानानाम् (कुरु नाम के राजाओं से सम्बन्धित देश विशेष के। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार 'कुरुर्धातंराष्ट्रपाण्डवानां पूर्वपुरुषः'। इस प्रकार इसका अर्थ कुरु नामक देश विशेष नहीं करना चाहिए क्योंकि भौगोलिक ग्रन्थों के अनुसार भारत देश के उत्तर और भारत से पृथक् कुरु नामक देश है। इस बात को यत्र-तत्र स्पष्टतया ग्रन्थों में वर्णित किया गया है) अधिपस्य=स्वामिनः (राजा की) श्रियः=राजलक्ष्म्याः (राज्यलक्ष्मीसम्बन्धी) पालनीम्=नियमसेविनीम् (पालन-पद्धति को) प्रजासु=जनेषु (प्रजा से संबंधित) वृत्तिम्=व्यवहारम् (व्यवहार को) वेदितुम्=ज्ञातुम् (जानने के लिए) यम् वनेचरम् (जिस वनेचर को) अयुङ्क्त=नियुक्तवान् (नियुक्त किया) स वर्णिलिंगी=स ब्रह्मचारिवेशधारी (वह ब्रह्मचारी के वेश को धारण करने वाला) विदितः=ज्ञातसमस्तसमाचारः (समस्त विशेष समाचार को जानने वाला) द्वैतवने=शान्ततपोवने (शान्त तपोवन में) युधिष्ठिरम्=धर्मराजम् (महाराज युधिष्ठिर के निकट) समाययौ=समाजगाम (वापस आ गया)।

व्याकरण—कुरूणाम्=कुरूणां निवासाः कुरवः जनपदाः तेषां कुरूणाम्। 'तस्य निवासः' सूत्र से अण् प्रत्यय होकर 'जनपदे लुप्' सूत्र से लुप् होता है। यह शब्द एक ही जनपद को बोधित करता है बहुवचन में इसका प्रयोग द्योतक है। इस बात को 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' यह सूत्र स्पष्ट करता है। अर्थात् एक प्रत्यय के लुप्त होने पर उससे सिद्ध शब्द का लिंग और वचन पूर्व के ही समान रहता है। "कुरुवर्ष कुरुश्चन्द्रवंशीयोऽपि नृपः कुरुः" इति कोषः।

अधिपस्य=अधि पाति इति अधिपः तस्य अधिपस्य। अधि+पा+क। 'आतश्चोपसर्गे' शेषे षष्ठी। "अधिभूर्नायकों नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः इत्यमरः।

पालनीम्=पाल्यते अनया इति पालनी ताम् पालनीम्। पा+ल्युट्+ङीप्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रजा=प्र+जन्+ड स्त्रियाम् टाप् प्रजा। "प्रजा स्यात्सन्ततौ जने" इत्यमरः। वृत्तिम्=वर्तते अनया इति वृत्तिः ताम् वृत्तिम्। वृत्+क्तिन्। वृत्तिः प्रवृत्तिराख्याता वृत्तिर्वार्तावृत्तिमपि।"

वर्णिलिंगी=वर्णः अस्यास्तीति वर्णी (वर्ण+इनि) तस्य वर्णिनः लीनमर्थं गमयति इति लिंगम्। वर्णिनः लिंगमस्यास्तीति वर्णिलिंगी लिंग+इनि। "वर्णी स्यात्लेखके चित्रकरेऽपि ब्रह्मचारिणि" इति विश्वः। विदितः=वेदनं विदितम् विदितमस्यास्तीति विदितः। विद्+क्त=विदितम् [विदित+अच्=विदितः] 'अर्श आदिभ्योऽच्' से आकृतिगण मानकर अच् प्रत्यय। महाभाष्यकार पतंजलि ने ऐसे-ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं : पीताः गावः' 'भुक्ताः ब्राह्मणाः' आदि मल्लिनाथ के अनुसार विदितः में कर्त्ता अर्थ में क्त प्रत्यय है और "धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात्। प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इस कारिका के आधार पर विद् धातु सकर्मक होते हुए भी अकर्मक हो गई। तात्पर्य यह है कि धातु के अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने से धातु के अर्थ में ही कर्म के समाविष्ट होने पर तथा कर्म के अत्यन्त प्रसिद्ध होने पर या कर्म अविवक्षित होने पर सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है।

वनेचरः=वने चरतीति वनेचरः चर्+ट=चरः। युधिष्ठिरम्=युधि संग्रामे स्थिरः युधिष्ठिरः तम् युधिष्ठरम्। 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' सूत्र के अनुसार समास में हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता इस कारण (युधि) में सप्तमी का लोप नहीं हुआ। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' सूत्र से 'स्थिर' के 'स' को 'ष' हो गया। तब 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से ष्टुत्व हो गया।

द्वैतवने=द्वै शोकमोहे इते गते यस्मात् इति द्वीतम्। द्वीतम् एव द्वैतम्। द्वैतञ्च तद् वनञ्च द्वैतवनम् तस्मिन् द्वैतवने। द्वि+इण्+क्त=द्वीतम्।

विशेष—कुरुवंश में धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण रोगी होते हुए भी पाण्डु राजा हुए। इनकी मृत्यु के पश्चात् नियमानुसार ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते युधिष्ठिर राज्य के उत्तराधिकारी घोषित किए गए परन्तु स्वभाव से ईर्ष्यालु दुर्योधन को यह अच्छा न लगा। अतः कपटपूर्वक युधिष्ठिर से राज्य छीनने के लिए मामा शकुनी के परामर्श से द्यूतक्रीड़ा के लिए युधिष्ठिर को आमन्त्रित किया। इस द्यूतक्रीड़ा में युधिष्ठिर अपना सब कुछ हार कर शर्त के अनुसार बारह वर्ष के लिए वन को चले गए। कुछ दिन काम्यक वन में रहने के अनन्तर द्वैत वन को चले गए। वहीं पर रहते हुए दुर्योधन के समस्त व्यवहारों को जानने की अभिलाषा से एक विश्वासपात्र वनेचर को ब्रह्मचारी के वेश में भेजा था। वह वृत्तान्त को जानकर युधिष्ठिर के पास आ गया और समाचारों को बतलाना प्रारम्भ किया।

वनेचर के लिए वर्णिलिंगी का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ प्रशस्ति होता है। काम सूत्र में आठ प्रकार के मैथुनों का उल्लेख है 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च। एवं मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः' इन आठों का अभाव ही प्रशस्ति कहा जाता है और प्रशस्ति से युक्त ब्रह्म-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चारी कहलाता है। ब्रह्मचारी के वेश में वनेचर दुर्योधन की व्यवस्था को जानने के लिए गया था। गुप्तचरों को तापस, मुण्डित, ब्रह्मचारी आदि के रूप में जाकर समाचारों का पता लगाना चाहिए, इस बात का निर्देश मनुस्मृति में भी किया गया है— 'कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पंचवर्गं च तत्त्वतः। अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च' ॥१५७॥ आचार्य चाणक्य ने भी कौटिल्य अर्थशास्त्र में ९ प्रकार के प्रतिनिधियों का वर्णन किया है। जो ब्रह्मचारी, जटाधारी या मुण्डित वेश में रहकर शत्रु के गुप्त भेद का पता लगाते हैं। इसी राजनीति के आधार पर राजा युधिष्ठिर ने वनेचर को ब्रह्मचारी के वेश में भेजा था।

काव्य को प्रारम्भ करते समय मंगल करने की भी परम्परा रही है। प्रारम्भ किया जाने वाला मंगल आशीर्वादात्मक, नकारात्मक तथा वस्तु-निर्देशात्मक तीन प्रकार का होता है। महाकवियों की इस प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए महाकवि भारवि ने भी प्रथम श्लोक में कथावस्तु का संकेत किया है। आचार्यों का कथन है कि ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मंगल करना चाहिए 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मंगलं करणीयम्।' इसी आधार पर महाकवि ने काव्य के प्रथम श्लोक में 'श्रीः' शब्द का प्रयोग किया है। यह भी नियम है कि काव्य के आरम्भ में मंगलकारी वर्णों तथा गणों का प्रयोग करना चाहिए किन्तु यहाँ पर 'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः। ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युः लिपितो गणतोऽपि वा' ॥ इस नियम से देवतावाची 'श्री' शब्द का प्रयोग किया गया है।

छन्द—इस सर्ग के अन्तिम दो श्लोकों को छोड़कर शेष में 'वंशस्थ' नामक छन्द है। बारह अक्षर वाले वृत्त को जिसमें जगण, तगण तथा रगण हों "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" उसे वंशस्थ कहते हैं। तीन अक्षर का एक गण होता है। गणों में गुरु तथा लघु की योजना होती है। ये गण क्रमशः य गण-मगण-तगण-रगण-जगण-भगण-नगण-सगण आदि भेद से आठ प्रकार के होते हैं। इनमें आदि, मध्य तथा अन्त में गुरु वाले गण क्रमशः भगण-जगण तथा सगण होते हैं। इसी प्रकार आदि, मध्य तथा अन्त में यगण-रगण तथा तगण लघु होते हैं, मगण में सब गुरु तथा नगण में सभी लघु होते हैं—

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरु लाघवम् ॥

गुरु का चिह्न ऽ है, लघु का। है। इन्हीं से गणों का निर्देश किया जाता है। 'यमाताराजभानलगम्' को गण सूत्र माना जाता है।

१ यगण=।ऽऽ=भवानी
२ मगण=ऽऽऽ=मान्धाता
३ तगण=ऽऽ।=राकेश
४ रगण=ऽ।ऽ=शैलता
५ जगण=।ऽ।=उमेश
६ भगण=ऽ।।=नारद
७ नगण=।।।=कमल
८ सगण=।।ऽ=घटना

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रियः—कु–रूणाम्–धिपस्य–पालनीम्–प्रजासु–वृत्तिय–मयुङ्क्त–वेदितुम् ।
संयुक्त, अनुस्वार तथा विसर्ग के आदि का वर्ण गुरु होता है ।

अलंकार—इस श्लोक में 'द्वैतवने वनेचरः' इस अंश में स्वर-व्यंजन के समुदाय की एक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥२॥

अन्वय—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जिताम् महीम् महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे । हि हितैषिणः मृषा प्रियम् प्रवक्तुम् न इच्छन्ति ॥२॥

वाच्यान्तरम्—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनसा न विव्यथे । हि हितैषिभिः मृषा प्रियं न प्रवक्तुम् इष्यते ।

कृतप्रणामेति ॥ कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात् कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात् सम्प्रदानत्वम् । निवेदयिष्यतः ज्ञापयिष्यतः । 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । कथमीदृगप्रियं राज्ञे विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः । 'व्यथ भयचलनयोः' इति धातोर्लिट् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति—हि यस्मात् हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषा मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति । अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः । 'अमौढ्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृतम् ।

अर्थ—प्रथमतः प्रणाम कर लेने के अनन्तर शत्रु से जीत ली गई पृथिवी का समाचार बताते हुए उस वनेचर का मन दुःखित नहीं हुआ क्योंकि हित चाहने वाले व्यक्ति असत्य प्रिय बोलने की कभी इच्छा नहीं करते ।

व्याख्या—कृतप्रणामस्य=कृतनमस्कारस्य (किया है नमस्कार जिसने) सपत्नेन =शत्रुणा दुर्योधनेन (शत्रु दुर्योधन के द्वारा) जिताम्=वशीकृताम् (जुआ आदि क्रीड़ा के द्वारा जीत ली गई) महीम्=पृथिवीम् (राज्यसम्बन्धी भूभाग को) निवेदयिष्यतः= कथयिष्यतः (निवेदनपूर्वक समस्त समाचार बतलाते हुए) महीभुजे=नृपाय (पृथिवी का पालन करने वाले राजा युधिष्ठिर से) तस्य वनेचरस्य=उस ब्रह्मचारिरूप वनेचर का) मनः=हृदयम् (मन) न विव्यथे=न चचाल (विचलित नहीं हुआ) हि=यतः (क्योंकि) हितैषिणः=स्वामिहितार्थिनः (अपने स्वामी का सर्वथा हित चाहने वाले लोग) मृषा=मिथ्या (किसी भी प्रकार झूठ) प्रियम् मतम् (मन को अच्छी लगने वाली मीठी बात को) प्रवक्तुम्=कथयितुम् (घुमा-फिरा कर कहने के लिए) न इच्छन्ति= कदापि न अभिलषन्ति (कभी भी इच्छा नहीं करते) ॥

व्याकरण—कृतप्रणामस्य—कृतः प्रणामो येन सः कृतप्रणामः तस्य कृतप्रणामस्य । बहुव्रीहि । कृ+क्तः, प्र+नम्+घञ्=प्रणाम । जिताम्=जि+क्त=जितः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्त्री+टाप् जिता+द्वितीया ताम्=जिताम्। महीभुजे=महीं भुनक्ति इति महीभुक् तस्मै महीभुजे। मही+भुज्+क्विप् 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' से चतुर्थी विभक्ति हुई है। जहाँ तुमुन्नन्त क्रियापद का प्रयोग अव्यक्त रहे वहाँ क्रिया के कर्म में चतुर्थी विभक्ति आती है। जैसे–'फलेभ्यो याति' यहाँ पर 'आहर्तुं' तुमुन्नन्त पद अव्यक्त है अतः आहरण क्रिया के कर्म फल से चतुर्थी विभक्ति आई। इसी प्रकार यहाँ पर भी महीभुजं ज्ञापयितुम् होना चाहिए परन्तु 'ज्ञापयितुम्' पद अव्यक्त है अतः कर्म महीभुक् में चतुर्थी हुई। इस बात को मल्लिनाथ ने 'क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम्' कहकर स्पष्ट किया है।

निवेदयिष्यतः—नि+विद्+णिच्+लृट्+शतृ+षष्ठी एकवचन।

हितैषिणः—हितमिच्छन्ति इति हितैषिणः। हित+इष्+णिनि=हितैषिणः। प्रवक्तुम्—प्र+वच्+तुमुन्=प्रवक्तुम्।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—पूर्व कथन का उत्तर वाक्य से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है। जिसका लक्षण—सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासः। इति साहित्यदर्पणे।

विशेष—शत्रु दुर्योधन की शासन-प्रणाली को अच्छी प्रकार जानकर उस वनेचर ने युधिष्ठिर को प्रणाम करके शत्रु विषयक व्यवहार को सत्य-सत्य बतलाना प्रारम्भ किया, क्योंकि नीतिशास्त्र के अनुसार गुप्तचरों में अमूर्खता, अशैथिल्य, सत्यभाषित्व तथा सत्यानुमान आदि सभी गुण होने चाहिए। अतः सत्यवादित्व के आधार पर वह प्रिय अप्रिय सभी कुछ अपने स्वामी से बतला देना अपना परम कर्तव्य समझता है। क्योंकि वह हितैषी है। इस कारण स्वामी को अन्धकार में नहीं रखना चाहता। मिथ्या मिथ्या ही है और सत्य सत्य ही है। झूठ और प्रिय वचन कहने से शत्रु की स्थिति का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। फलस्वरूप शत्रु के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता अतः गुप्तचरों का यह कर्तव्य है कि वह स्वामी से असत्य प्रिय वाक्य न कहें। दूसरी ओर वह वनेचर मूर्ख जंगली व्यक्ति न होकर निरीह निस्पृह ब्रह्मचारी है उसे असत्य बोलकर किसी को प्रसन्न नहीं करना है सत्य भाषण करना उसका परमकर्तव्य है। क्योंकि ब्रह्मचारी जगत् के कल्याण के लिए ही कार्य करते हैं॥ २॥

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे॥३॥

अन्वय—सः द्विषाम्, विघाताय, विधातुम् इच्छतः भूभृतः रहसि अनुज्ञाम् अधिगम्य सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम् विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे।

वाच्यान्तरम्—द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः रहसि अनुज्ञामधिगम्य तेन सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी विनिश्चितार्था इति वाक् आददे॥ ३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विषामिति—रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम् कर्मणि षष्ठी । विधाताय विहन्तुमित्यर्थः । "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः । अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः । तथापि प्रयोगवैचित्र्यविशेषस्याप्यलंकारत्वादेव व्याचक्षते । विधातुं व्यापारं कर्तुमिच्छतः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य । सुष्ठु भावः सौष्ठवं शब्दसामर्थ्यम् । सुष्ठुशब्दादव्यया-दुद्गात्रादित्वादञ् प्रत्ययः । उदारस्य भावः औदार्यमर्थसम्पत्तिः तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौ-दार्ये । अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्राल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः । उक्तं च काशिकायाम्—'अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः । 'पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्न-मिति । त एव विशेषः तयोर्वा विशेषः तेन शालते इति । सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम् । ताच्छील्ये णिनिः । विनिश्चितार्थाम् विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थामिति वक्ष्य-माणरूपां वाचमाददे स्वीकृतवान् उवाचेत्यर्थः ॥३॥

अर्थ—शत्रुओं के नाश करने के लिए उपाय करने की अभिलाषा रखने वाले महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा प्राप्त कर एकान्त में उस वनेचर ने शब्द और अर्थ के गुणों से पूर्ण तथा तर्कसंगत वाणी को कहा ।

व्याख्या—सः=वनेचरः (वह ब्रह्मचारी) द्विषाम्=शत्रूणाम् (शत्रुओं के) विघाताय=विनाशाय (विनाश के लिए) विधातुम्=व्यापारं कर्तुम् विधान कर्तुं वा (जिस किसी प्रकार से शत्रु का संहार हो यह विचार करते हुए) इच्छतः अभिलषतः (इच्छा वाले) भूभृतः=राज्ञो युधिष्ठिरस्य (राजा युधिष्ठिर की) रहसि=एकान्ते (एकान्त स्थान में) अनुज्ञाम्=आज्ञाम् (आदेश को) अधिगम्य=(प्राप्त करके) सौष्ठ-वौदार्यविशेषशालिनीम्=शब्दार्थगुणविलसिताम् (सौष्ठव और औदार्य गुणों से विल-सित) विनिश्चितार्थाम्=युक्तियुक्ताम् (तर्कसंगत प्रमाणों से निर्णीत अर्थों वाली) वाचम् =वाणीम् (वाणी को) आददे=उवाच (बोला) ।

व्याकरण—द्विषाम्=द्विषन्ति इति द्विषः तेषाम् द्विषाम् । द्विष्+क्विप् । कर्तृकर्मणोः कृति से कर्म में षष्ठी ।

विघाताय—विहन्तुम् इति विघातः तस्मै विघाताय । वि+हन्+घञ्= विघातः । यहाँ पर 'भाववचनाच्च' से तुमर्थ में घञ् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है अतएव 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' से चतुर्थी विभक्ति की गई है । तात्पर्य यह है कि यदि किसी धातु में तुमुन् प्रत्यय न जोड़कर धातु से बनी हुई भाववाचक संज्ञा का प्रयोग करें तो चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

विधातुम्—वि+धा+तुमुन्=विधातुम् ।

इच्छतः—इष्+शतृ+षष्ठी विभक्ति एकवचन 'इषुगमियमां छः' से 'च्छ' हो जाता है ।

भूभृतः—भुवं बिभ्रति इति भूभृत् तस्य भूभृतः ।

अधिगम्य—अधि+गम्लृ+क्त्वा+ल्यप्=अधिगम्य ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहसि—रमन्ते अस्मिन् इति रहः तस्मिन्, रहस्य। 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः।

सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं—सुष्ठु भावः सौष्ठवम् उदारस्य भावः औदार्यम् सौष्ठवञ्च औदार्यञ्च सौष्ठवौदार्ये, सौष्ठवौदार्ययोः विशेषः सौष्ठवौदार्यविशेषः सौष्ठवौदार्य विशेषेण शालते शोभते इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम् सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्। सुष्ठु+अण् सौष्ठवम्, उदार+ष्यञ्=औदार्यम् शाल्+णिनि+ङीप् =शालिनी सौष्ठवौदार्ये इस समस्त पद में 'अजाद्यन्तम्' सूत्र के अनुसार अजादि शब्द औदार्य का पूर्वनिपात होना चाहिए परन्तु ऐसा यहाँ पर नहीं किया गया क्योंकि आचार्य पाणिनि ने भी 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' सूत्र में लक्षण तथा हेतु में द्वन्द्व समास करने पर 'अल्पाच्तरम्' सूत्र से अल्प अच् वाले 'हेतु' शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया। इस कारण यह ज्ञात होता है कि पूर्वनिपात का नियम नित्य नहीं अपितु अनित्य है। काशिकाकार ने भी इसी बात को 'अयमेव हेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' कहकर स्पष्ट किया है।

विनिश्चितार्थाम्—विशेषेण निश्चितः निर्णीतोऽर्थो यस्याः सा विनिश्चितार्था ताम्।

आददे—आङ्+दा+लिट् एकवचन 'आङो दोऽनास्यविहरणे' से आत्मनेपद। आङ् पूर्वक दा धातु का अर्थ स्वीकार करना या कहना होता है।

छन्द—वंशस्थ

अलंकार—अनुप्रास

विशेष—शत्रु का विनाश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि राजनीति के साम-दाम—दण्ड-भेद नीति का आश्रय ग्रहण करे क्योंकि भेदनीति द्वारा शत्रु के रहस्य को जानकर ही उससे बदला लिया जा सकता है युधिष्ठिर भी शत्रु का विनाश चाहते हैं इसी कारण वनेचर को गुप्त रूप में दुर्योधन का भेद लेने के लिए भेजा था। क्योंकि उसके द्वारा सूचना मिलने पर ही इस सम्बन्ध में कुछ प्रयास किया जा सकता। इसी कारण महाराज युधिष्ठिर दुर्योधन के राज्य का समाचार सुनने को अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे।

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥४॥

अन्वय—हे नृप क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न वञ्चनीयाः। अतः असाधु वा साधु क्षन्तुम् अर्हसि। हितम् मनोहारि च, वचः दुर्लभम्।

वाच्यान्तरम्—हे नृप! क्रियासु युक्तः अनुजीविनः चारचक्षुषः प्रभून् न वञ्चयेयुः अतः असाधु वा साधु वचनं त्वया अर्ह्यते। हितेन मनोहारिणा वचसा दुर्लभेन भूयते।

क्रियास्विति—हे नृप, क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविभिः भृत्यैः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चारादिभिरित्यर्थः। चरन्तीति चराः। पचाद्यच्। त एव चाराः। चरेः पचाद्यजन्तात् प्रज्ञादित्वादण् प्रत्ययः। त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः। 'स्वपर-मण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृतम्। प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः। सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः। चारापचारे चक्षुरपचारवत् राज्ञां पदे पदे निपात इति भावः। अतोऽप्रतार्यत्वाद्धेतोः। असाध्वप्रियं साधु प्रियं वा यदुक्तमिति शेषः। क्षन्तुं सोढुमर्हसि। कुतः हितं पथ्य मनोहारि च वचो दुर्लभम्। अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ॥४॥

अर्थ—हे राजन्! स्वामी के द्वारा कार्यों में नियुक्त किए गए भृत्यों को गुप्तचर रूपी नेत्रों से देखने वाले स्वामी को कभी धोखा नहीं देना चाहिए इस कारण मैं सत्य कहूँगा यदि मेरी बात कुछ कटु हो तो उसे आप क्षमा करने में समर्थ हैं क्योंकि हित करने वाली और प्रिय वाणी दुर्लभ होती है।

व्याख्या—हे नृप=हे राजन् (हे राजन् युधिष्ठिर) क्रियासु=कार्येषु (करने योग्य वस्तुओं में) युक्तैः=नियुक्तैः (लगाए गए) अनुजीविभिः=सेवकैः (अनुचरों के द्वारा) चारचक्षुषः=गुप्तचरनेत्राः (गुप्तचर रूपी नेत्रों वाले) प्रभवः=स्वामिनः (स्वामी लोग) न वञ्चनीयाः=न प्रतारणीयाः (ठगे नहीं जाते) अतः अस्मात् कारणात्=इस कारण से असाधु=अप्रियम् (अप्रिय) वा=अथवा, साधु=सम्यक् प्रियम् (ठीक और प्रिय) क्षन्तुम=सोढुम् (सहन करने के लिए) अर्हसि=योग्योऽसि (योग्य हो, समर्थ हो) हितम्=कल्याणकारम् (कल्याणकारक) मनोहारि=प्रियं सुखकरम् (प्रिय और सुख देने वाली) वचः=वचनम् (वाणी) दुर्लभम्=दुःखेन लभ्यते (बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है)।

व्याकरण—हे नृप—नॄन् पाति इति नृपः तत्सम्बुद्धौ हे नृप नृ+पा+क=नृप। युक्तैः—युज्+क्त तृतीया बहुवचन।

अनुजीविभिः—अनुजीवन्ति तच्छीलाः अनुजीविनः तैः अनुजीविभिः। अनु+जीव्+णिनि। 'सेवकार्थ्यनुजीविनः।' इत्यमरः।

चारचक्षुषः=चरन्तीति चराः, चरा एव चाराः, चारा एव चक्षूंषि येषां ते चारचक्षुषः। 'यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः। चारश्च गूढपुरुषश्च' इत्यमरः।

वञ्चनीयाः—वञ्च्+अनीयर्=वञ्चनीयाः।

प्रभवः—प्रभवन्ति इति प्रभवः। प्र+भू+क्विप्।

क्षन्तुम्—क्षम्+तुमुन्।

मनोहारि—मनोहरति इति मनोहारि। मनस्+हृ+णिनि।

दुर्लभम्—दुःखेन लभ्यते यत् तत् दुर्लभम्। दुर्+लभ्+खल्।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास—क्योंकि विशेष वाक्य का सामान्य से समर्थन है।

विशेष—राज्य के सम्पूर्ण कार्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राजाओं को गुप्तचरों की नियुक्ति करनी पड़ती है क्योंकि राजा स्वयम् सम्पूर्ण शासन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की देख-रेख नहीं कर सकते । उनका सारा कार्य गुप्तचरों पर आधारित रहता है । इसी कारण राजा लोग चारचक्षुपः कहे जाते हैं । नीतिवाक्य है कि 'चारैः पश्यन्ति राजानः शास्त्रैः पश्यन्ति पण्डिताः । गावः पश्यन्ति गन्धेन चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ।' यह गुप्तचर राज्य और राजा के कल्याण के लिए सत्य बोलते थे । सत्य कटु अवश्य हो जाता है इसी कारण वनेचर कहता है कि कटूक्ति के लिए क्षमा करना क्योंकि हित-कर और प्रियवचन दुर्लभ हैं । अतः मेरी अप्रिय वाणी आपके लिए हितकर होगी ऐसा सोचकर क्षमा कीजियेगा ।।४।।

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संश्रृणुते स किं प्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ।।५।।

अन्वय—यः अधिपं साधु न शास्ति, स किं सखा ? (वा किंसखा) यः हितात् न संश्रृणुते स किं प्रभुः । (वा किंप्रभुः) हि सदा अनुकूलेषु नृपेषु अमात्येषु च सर्व-सम्पदः रतिम् कुर्वते ।।५।।

वाच्यान्तरम्—येन अधिपो न साधु शिष्यते, तेन किं सख्या भूयते, येन हितान्न संश्रूयते तेन किं प्रभुणा भूयते । हि सदानुकूलेषु नृपेष्वमात्येषु सर्वसम्पद्भिः रतिः क्रियते ।

स इति—यः सखाऽमात्यादिरधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदिशति । 'ब्रु विशासि ।' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठात् द्विकर्मकत्वम् । स हितानुपदेष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थः । किमः क्षेपे इति समासान्तप्रतिषेधः । तथा यः प्रभुः निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हितादाप्तजनाद्धितोपदेष्टुः सकाशात् । आख्यातोपयोगे इति अपादानात्पञ्चमी । न संश्रृणुते न श्रृणोति हितमिति शेषः । 'समोगम्यृच्छि' इत्या-दिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम्, अकर्मकत्वम् वैवक्षिकम् । स हितमश्रोता प्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी पूर्ववत्समासः । सर्वथा सचिवेन वक्तव्यम् श्रोतव्यं स्वामिना एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति—हि यस्मा-न्नृपेषु अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च । अव्ययात्त्यप् । अनुकूलेषु परस्परानुक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते कुर्वन्ति न जातु जहतीत्यर्थः । अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैवं राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतदश्रवणनिन्दासामर्थ्य-सिद्धैरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्पत्सिद्धिरूपकार्येण समर्थनाद् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तदुक्तम्—सामान्यविशेषकार्यकरणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

अर्थ—जो अपने स्वामी को हितपूर्ण उपदेश नहीं देता वह क्या सच्चा मित्र है या दुष्ट मित्र है ? जो स्वामी अपने हितचिन्तकों की बात नहीं सुनता वह क्या सच्चा स्वामी है या नीच स्वामी है । क्योंकि राजा और मन्त्री परस्पर अनुकूल रहने पर ही सारी समृद्धियाँ सदैव अनुराग करती हैं ।

व्याख्या—यः सखा=योऽमात्यदिः (जो मन्त्री मित्र आदि) अधिपम्=स्वामि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नम् (अपने स्वामी को) साधु=हितम् (सुन्दर हितपूर्ण) न शास्ति=नोपदिशति (नहीं उपदेश देता है) सः=जनः (वह मनुष्य, मन्त्री, मित्र आदि) किं सखा=कुत्सितं मित्रम् (दुष्ट मित्र है अथवा क्या वह मित्र है ? अर्थात् मित्र तो सदैव अन्धकार से दूर करने वाला है) यः=प्रभुः (जो स्वामी) हितात्=अमात्यादेः (अमात्य, मित्र आदि से) न संश्रृणुते=न श्रृणोति (हित वाक्यों को नहीं सुनता है) सः=श्रवणविमुखः (हित वचनों को सुनने से विमुख) किंप्रभुः=न प्रभुः कुत्सितप्रभुः (राजा नहीं है अथवा वह नीच राजा है) हि=यतः (क्योंकि) सदा=निरन्तरम् (सदैव) अनुकूलेषु=अनुरक्तेषु (परस्पर अनुरक्त रहने पर) नृपेषु=राजसु (राजाओं तथा) अमात्येषु=मन्त्रियों के। सर्वसम्पदः=सकलसम्पत्तयः (सम्पूर्ण समृद्धियाँ) रतिम्=स्नेहम् (प्रेम को) कुर्वते=कुर्वन्ति (करती है)।

व्याकरण—अधिपः अधि पाति इति अधिपः तम् अधि+पा+क। किंसखा—कुत्सितः सखा किंसखा (कर्मधारय समास) 'वयस्यः स्निग्धः सवया अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः।

साधु—'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्'।

हितात्—हितम् अस्ति अस्य इति हितः तस्मात् हितात्। हित+अच् (अर्श आदिभ्योऽच्) यहाँ पर पंचमी विभक्ति का प्रयोग 'आख्यातोपयोगे' सूत्र के आधार पर हुआ है। तात्पर्य यह है कि जब किसी अध्यापक या गुरु से कोई वस्तु नियम पूर्वक पढ़ी या न सुनी जाती है तो उपदेश देने वाले गुरु की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति हो जाती है।

संश्रृणुते—'श्रु' धातु वस्तुतः सकर्मक है परन्तु यहाँ कर्म अविवक्षित होने के कारण 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इस नियम से अकर्मक हो गई। 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति' इस वार्तिक से यहाँ आत्मनेपद का विधान किया गया। सम् पूर्वक ऋ, श्रु तथा दृश् धातु अकर्मक होने पर आत्मनेपद में प्रयुक्त होती हैं। भट्टोजिदीक्षित ने कर्मणोऽविवक्षातः की व्याख्या करते हुए 'हितान्न यः संश्रृणुते स 'किंप्रभुः उदाहृत किया।

किंप्रभु—कुत्सितः प्रभुः किंप्रभुः।

सदा सर्वस्मिन् काले सदा सर्वदा वा। अव्यय होने के कारण विभक्ति का लोप हो जाता है। तथा 'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व, एक अन्य, किम्, यत् और तद् से दा प्रत्यय होता है। सर्व+दा। दा प्रत्यय होने पर 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि' सूत्र से 'सर्वः' के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से हो जाता है तब (सदा) सिद्ध होता है।

सर्वसम्पदः—सम्पद्यन्ते इति सम्पत्, सर्वाः सम्पदः सर्वसम्पदः। सम्+पद्+क्विप्। अथ सम्पदि। सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च इत्यमरः।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास। यहाँ मन्त्री द्वारा हित वचन न कहने तथा राजा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा हित वचन न सुनने की निन्दा करके दोनों की परम्परानुकूलरूपकारण समर्थन द्वारा सर्वसम्पत्तिलाभरूप कार्य के होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है जैसा कि कहा गया है। "सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्ट-प्रकृतिसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।

विशेष—जब राजा और मन्त्री दोनों में ऐकमत्य रहता है तभी सकल सम्पत्तियाँ तथा सुख राज्य में प्राप्त होता है। इसके लिए आवश्यक है कि मन्त्री राजा को उचित सलाह दे और राजा भी उसे सुने जो ऐसा नहीं करते वे दुष्ट मन्त्री तथा दुष्ट राजा होते हैं। कारण यह है कि सत्य बात में कटुता अवश्य कुछ न कुछ आ ही जाती है। इस कटुता पर राजा को ध्यान न देकर उसके सार तत्त्व पर ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार शासन सुगमता से चलता है। अतः मैं अपना कर्तव्य समझकर आपसे यथार्थ बात कहूँगा और आप-अपना कर्तव्य समझकर उसे शान्तिपूर्वक सुनकर राज्यप्राप्ति के विषय में विचार कीजिए ॥५॥

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

अन्वय—निसर्गदुर्बोधम् भूपतीनां चरितं क्व। अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व। मया विद्विषाम्, निगूढतत्त्वम् नयवर्त्म यद् अवेदि अयम् तव अनुभावः ॥ ६ ॥

वाच्यान्तरम्—निसर्गदुर्बोधन भूपतीनां चरितेन क्व। अबोधविक्लवैः जन्तुभिः क्व। अहं विद्विषां निगूढतत्त्वम् नयवर्त्म यदवेदिषम् अनेन तवानुभावेन (भूयते)।

निसर्गेति—निसर्गदुर्बोधम् स्वभावदुर्ग्रहम्। 'ईषद्दुः' इत्यादिना खल्प्रत्ययः। भूपतीनां चरितं क्व। अबोधविक्लवा अज्ञानोपहता जन्तवः मादृशाः पामरजना इत्यर्थः क्व। नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः। तथापि निगूढतत्त्वं संवृतयाथार्थ्यं विद्विषां नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः। "सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्" । इत्यादिरूपो यन्मयाऽवेदि। ज्ञातमिति यावत्। विदेः कर्मणि लुङ्। अयम्। इदं वेदनमित्यर्थः। विधेय-प्राधान्यात्पुंल्लिगनिर्देशः। तवानुभावः सामर्थ्यम्। अनुगतो भावः अनुभावः इति घञन्तेन प्रादिसमासः। न तूपसृष्टाद्घञ् प्रत्ययः। श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे इति भवतेः धातोर्घञ्विधानात् अतएव काशिकायाम्—कथं प्रभावो राज्ञां प्रकृष्टो भावः इति प्रादिसमासः इति। दोषपरिहारौ सम्यग्ज्ञात्वैव विज्ञापयामि। न तु वृथा कर्णकठोरं प्रलपामीत्याशयः ॥६

अर्थ—स्वभाव से ही कठिन अतः न समझने योग्य राजाओं का चरित्र कहाँ और मेरे समान मन्द बुद्धि वाले जंगली आदमी कहाँ। ऐसा अन्तर होने पर भी मैं आपके शत्रुओं के गूढ तत्त्व वाली राजनीति को जितना समझ सका हूँ वह केवल आपका ही प्रभाव है।

व्याख्या—निसर्गदुर्बोधम्=स्वभावदुर्ग्रहम् (स्वभाव से ही कठिन) भूपतीनाम्=नृपाणाम् (राजाओं का) चरितम्=व्यवहारः (राज्यशासनव्यवस्थारूप व्यवहार) क्व=कुत्र (कहाँ) अबोधविक्लवाः=स्वभावजडाः (स्वभाव से ही अज्ञानी)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जन्तवः=प्राणिनः (हमारे समान अरण्यवासी वनेचर, यहाँ पर जन्तु शब्द का प्रयोग अपनी तुच्छता को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किया गया है) क्व=कुत्र (कहाँ) मया=वनेचरेण (मुझ वनेचर के द्वारा) विद्विषाम्=शत्रूणाम् (आपके शत्रुओं का) निगूढतत्त्वम्=गुप्ततत्त्वम् अप्रकटितरहस्यं नयवर्त्म=नीति-मार्गः (नीति का मार्ग, यहाँ पर नीतिमार्ग से तात्पर्य राजनीति के उन छः गुणों से है जो शासन-प्रणाली के महत्व-पूर्ण अंग माने जाते हैं, जैसे सन्धि—मेल, विग्रह=युद्ध, यान=चढ़ाई करना, आसन=सेना को व्यूह रूप में रखकर समय की प्रतीक्षा करना, द्वैधीभाव=भेदनीति का आश्रयण करना अर्थात् एक ओर अपनी सेना को मित्रता के लिए प्रेरित करना दूसरी ओर सेना के कुछ अंश से आक्रमण करवा देना, आश्रय=आत्मसमर्पण। इसी को नीतिशास्त्र में कहा गया है "सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्"। राजनीतिशास्त्र के महारथी आचार्य चाणक्य ने भी षाड्गुण्य का प्रयोग बताया है। इससे शासन में स्थिरता आती है। यत्=यत्किञ्चित् (जो कुछ थोड़ा बहुत) अवेदि=ज्ञातम् (जाना गया है) (तत्=वह सब) अयम् =यह, तव=भवतः (आप महाराज युधिष्ठिर का) अनुभावः=प्रभावः (प्रभाव ही है) अर्थात् आपके सम्पर्क में रहने के कारण मुझे भी कुछ ज्ञान हो गया है क्योंकि महनीय व्यक्तियों का सम्पर्क प्राप्त करके लघीयान् पुरुष भी महान् हो जाते हैं; जैसे काँच भी कंचन के सम्पर्क में कान्तियुक्त होता है। अतः आपके प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही मैं कुछ समझ सका हूँ।

व्याकरण—निसर्गदुर्बोधम्=निसृज्यते इति निसर्ग, दुःखेन बुध्यते इति दुर्बोधम् निसर्गेण दुर्बोधम् निसर्गदुर्बोधम्। नि+सृज्+घञ्=निसर्गः दुर्+बुध्+खल् "ईष-द्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" से खल् प्रत्यय हुआ। भूपतीनामपाति इति पतिः, भुवः पति भूपतिः तेषां भूपतीनाम्। पा+डति+पतिः। पति शब्द जब समाज में प्रयुक्त होता है तो उसके रूप हरि शब्द के समान होते हैं अन्यथा सखि शब्द के समान होते हैं। क्व—किम् शब्द से 'किमोऽत्' ५।३।१२ से अत् प्रत्यय होने के अनन्तर 'क्वाति' ७।२।१०५ से किम् के स्थान पर क्व आदेश हो जाता है। अबोधविक्लवाः=न बोधः अबोधः, अबोधेन विक्लवाः अबोधविक्लवाः। बुध्+घञ्=बोधः। "विक्लवो विह्-वलः स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः" इत्यमरः। वि+क्लु—अच्=विक्लवः विद्विषाम् =विशेषेण द्विषः विद्विषः तेषाम् विद्विषाम्। निगूढतत्त्वं=निश्चयेन गूढं तत्व यस्य तद् निगूढतत्त्वम्। नि—गुह—क्त। नयवर्त्म=नीयते अनेन इति नयः, नयस्य वर्त्म नय-वर्त्म। अनुभावः—भवनं भावः अनुगतः भावः अनुभावः भू—घञ्। यहाँ 'अनु' भू धातु का उपसर्ग नहीं है अतएव 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे से घञ् प्रत्यय हुआ है अर्थात श्रि, नी तथा भू धातु से उपसर्ग न होने पर घञ् प्रत्यय होता है। इस कारण 'अनु' भावः के पूर्व में प्रयुक्त है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—विषमालङ्कार=जहाँ पर कार्य और कारण के गुण या क्रियायें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परस्पर विरुद्ध हों, अथवा प्रारम्भ किया हुआ कार्य अपूर्ण हो प्रत्युत कुछ अनर्थ आ पड़े या दो विरूप पदार्थों का मेल हो वहाँ विषमालङ्कार होता है। 'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः। विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्।' यहाँ अबोधविक्लव जन्तु और निगूढ़तत्त्व नीतिमार्ग युक्त राजाओं का चरित इन दोनों विरूप पदार्थों की योजना हुई है।

विशेष—इस श्लोक द्वारा राजनीति के षाड्गुण्य का वर्णन किया गया है। इससे कवि की विद्वता का परिचय मिलता है। आचार्य चाणक्य ने इसको विशेष महत्व दिया है। कौटिल्य के अनुसार शर्तों के साथ शान्ति सन्धि, हानिकारक उपायों को प्रत्यक्ष रूप से करना विग्रह, उपेक्षा करना आसन, चढ़ाई करना यान, दूसरे का सहारा लेना स्श्रय, तथा एक से लड़ना और दूसरे के साथ सन्धि करना द्वंधीभाव कहलाता है। यदि शत्रु से कमजोर हो तो सन्धि करे, युद्ध के लिए तैयार हो तो विग्रह करे, एक दूसरे को हानि पहुँचाने में असमर्थ हो तो उदासीनता अर्थात् आसन ग्रहण करे, यदि समर्थ अधिक हो तो चढ़ाई अर्थात् यान करे, यदि कमजोर हो तो सहारा ले, यदि सहायता से साध्य हो तो द्वंधीभाव को धारण करे। यही छः प्रकार की नीतियाँ हैं। इन सबका ज्ञान युधिष्ठिर के साथ रहने से वनेचर को हो गया था। यही कारण है कि वह दुर्योधन की चालों को समझ सका।

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥७॥

अन्वय—सुयोधनः नृपासनस्थः अपि वनाधिवासिनः भवतः पराभवं विशङ्कमानः दुरोदरच्छद्मजितां जगतीम् नयेन जेतुम् समीहते॥

वाच्यान्तरम्—सुयोधनेन नृपासनस्थेनापि वनाधिवासिनो भवतः पराभवं विशङ्कमानेन दुरोदरच्छद्मजिता जगती नयेन जेतुं समीह्यते।

विशङ्कमान इति—सुखेन युध्यते सुयोधनः। 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युज्वाच्यः'। नृपासनस्थोऽपि सिंहासनस्थोऽपि। वनमधिवसतीति तस्माद् वनाधिवासिनो वनस्थात्। राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः। भवतस्त्वत्तः पराभवं पराजयं विशङ्कमानः उत्प्रेक्षमाणः सन्। दुष्टमुदरमस्येति दुदोदरं द्यूतम्। पृषोदरादित्वात्साधुः। 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः। तस्य छद्मना मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम्। 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती। नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्तुं समीहते व्याप्रियते। न तूदास्त इत्यर्थः। बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमञ्च धनं भुञ्जानस्य कुतो मनः समाधिरिति भावः। अत्र दुरोदरच्छद्मजितामिति विशेषणपदार्थस्य चतुर्थपदार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासाद् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तम्—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।'

अर्थ—वह दुर्योधन राजसिंहासन पर आसीन होते हुए भी वन में निवास करने वाले आप लोगों से आने वाले भय की आशङ्का करता हुआ जुए रूपी कपट से जीती हुई पृथिवी को नीतिपूर्वक अपने वश में करना चाहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—सुयोधनः=दुर्योधनः (वह राजा दुर्योधन) नृपासनस्थः=सिंहासनाधिरूढः (राजसिंहासन पर अधिरूढ़ होता हुआ भी) वनाधिवासिनः=अरण्यवासिनः (उस समय भाग्यवश अरण्य में निवास करने वाले) भवतः=त्वत्तः (आप युधिष्ठिर से) पराभवम्=पराजयम् (आने वाले पराजय को) विशङ्कमानः=उत्प्रेक्षमाणः (आशङ्का करते हुए, पता नहीं किस समय पाण्डव आकर के हम लोगों का विनाश करके राज्य को ग्रहण कर लें इस प्रकार के भय से सदैव शङ्कित रहता हुआ) दुरोदरच्छद्मजिताम्=द्यूतकपटेन वशीकृताम् (जुए में कपट से जीती हुई) जगतीम्=महीम् (पृथिवी को) नयेन=नीत्या (नीतिपूर्वक) जेतुम्=वशीकर्तुम् (वश में करने के लिए) समीहते=चेष्टते (निरन्तर प्रयास करता रहता है ॥

व्याकरण—नृपासनस्थः=नृ नृ पाति इति नृपः, आस्मते अस्मिन् इति आसनम् नृपस्य आसनम् नृपासनम्, नृपासने तिष्ठतीति नृपासनस्थः। आस्+ल्युट्=आसनम्, नृपासन+स्था+क=नृपासनस्थः। सुयोधनः=सुखेन युध्यते इति सुयोधनः। सु+युध्+युच्+अन। यहाँ पर "भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युज्वाच्यः" इस वार्तिक से युच् प्रत्यय हुआ है। वनाधिवासिनः—वनम् अधिवसति इति वनाधिवासी तस्मात् वनाधिवासिनः। वन+अधि+वस्+णिनि। भवतः=भाति इति भवत् या+डवतु। पराभवम्-पराभवनं पराभः तम् पराभवम्। परा+भू+अप्। 'पराभवः परिभवः परिभूतः पराजयः' इति कोषः।

विशङ्कमानः=विशङ्कते इति विशङ्कमानः। वि+शङ्क्+शानच्। दुरोदरच्छद्मजिताम्=दुः दुष्टम् उदरम् अस्य इति दुरोदरम् दुरादरस्थ छद्म दुरोदरच्छद्म, दुरोदरच्छद्मना जिता दुरोदरच्छद्मजिता ताम् दुरोदरच्छद्मजिताम्। दुर्+उदरम्=दुरोदरम् यहाँ पर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस नियम से निपातनात्, 'ओ' होकर दुरोदर हो जाता है, अन्यथा 'दुरुदरम्' यह होना चाहिए। इसी प्रकार पृषत्+उदरम्=पृषोदरम्, वारिवाहकः=वलाहकः यहाँ पर वारिव् के स्थान पर वलादेश होकर वलाहक होता है। इससे कुछ अन्य शब्द भी बनते हैं जिनके लिये यह कारिका ही नियम है 'भवेद्वर्णागमाद्हंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्। गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरम्।' हस् धातु के अनुस्वारवर्ण का आगम हंस, हिंस् धातु के उपर्युक्त नियम से वर्णपरिवर्तन सिंह आदि शब्द इसी नियम से सिद्ध होते हैं।

'दुरोदरे द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः।

जगतीम्—गच्छतीति जगत्+ङीष् ताम्=जगतीम्।

जेतुम्—जि+तुमुन्=जेतुम्।

समीहते—सम्+ईह+लट्=समीहते—आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—काव्यलिंग अलंकार—क्योंकि काव्यलिंग वहाँ होता है जहाँ वाक्य या पद के अर्थ का कारण का उपन्यास किया जाय। यहाँ पर 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इस विशेषण पद का अर्थ 'नयेन जेतुम्' के कारण रूप में उपस्थपित किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

अन्वय—तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया, गुणसम्पदा, यशः तनोति। भूतिम् समुन्नयन् अनार्यसंगमात् महात्मभिः समम् विरोधः अपि वरम् ॥ ८ ॥

वाच्यान्तर—तथापि जिह्मेन भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तन्यते। भूतिं समुन्नयता अनार्यसंगमात् महात्माभिः विराधेनापि वरेण भूयते ॥८ ॥

तथापीति—तथापि साशङ्कोऽपीति। जिह्मो वक्रः वञ्चक इति यावत्। स दुर्योधनो भवज्जिगीषया गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छत्यत्यर्थः। 'हेतौ' इति तृतीया। गुणसम्पदा दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा कारणेन। शुभ्रं यशस्तनोति। स खलो गुणलोभनीयां त्वत्सम्पदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः। नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संगालाभे नीचसङ्गमाद् वरमुत्कर्षावहत्वादित्वादित्याह—समिति। तथा हि भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन्। 'लटः शतृशानचौ' इत्यादिना शतृप्रत्ययः। पुनर्लङ्ग्रहणसामर्थ्यात् प्रथमासमानाधिकरण्यम्। महात्मभिः समम्। सहेत्यर्थः। 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः। अनार्यसंगमात्। 'पञ्चमी विभक्ते:' इति पञ्चमी। विरोधोऽपि वरं मनाक्प्रियः 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। अत्र 'मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्वं वाक्यान्वये समाप्तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्ताख्यानदोषापत्तिः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'समाप्तपुनरादानात्समाप्तं पुनरात्तकम्' इति। न च वाक्यान्तरमेतत् येनोक्तदोषपरिहारः स्यात्। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः। स च भूतिसमुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरोधवत्त्वं प्रति हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिंङ्गानुप्राणित इति।

अर्थ—सशंकित रहता हुआ भी वह कपटमूर्ति दुर्योधन आपसे आगे बढ़ने की कामना से अपने दिखावटी गुणों से निर्मल यश फैला रहा है। क्योंकि ऐश्वर्य को बढ़ाते हुए व्यक्ति के लिए नीचों के संग की अपेक्षा महान् लोगों से विरोध करना भी अच्छा होता है।

व्याकरण—'तथापि—तद्+थाल् प्रकारवचने थाल्' इस सूत्र से यहाँ थाल् प्रत्यय होता है। तथा+अपि=तथापि।

जिह्म=जहाति सरलमार्गम् इति जिह्मः। ओहाक् त्यागे धातु से उणादि सूत्र 'जहातेः सन्वदालोपश्च' से आलोप तथा मन् प्रत्यय और 'सन्यतः' सूत्र से इकार हा+मन्=जहा+मन्=जिह्म। "जिह्मस्तु कुटिलेऽलसे" इत्यमरः।

भवज्जिगीषया=जेतुमिच्छा जिगीषा भवन्तं जेतुमिच्छा भवज्जिगीषा तया भवज्जिगीषया।

गुणसम्पदा=गुणानां सम्पत् गुणसम्पद् तया गुणसम्पदा। शुभ्रम्=शोभते इति शुभ्रम्। शुभ्+रक् उणादि सूत्र 'स्फायितञ्चि' से। 'शुभ्रशुक्लशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डुराः' इत्यमरः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूतिम्=भवनम् भूतिः ताम् भूतिम्। भू+क्तिन्।

समुन्नयन्=समुन्नयति इति समुन्नयन्। सम्+उत्+शतृ।

अनार्यसंगमात्—न आर्यः अनार्यः अनार्यस्य सङ्गमः अनार्यसङ्गमः तस्मात् अनार्यसङ्गमात्। ऋ+ण्यत्=आर्यः नञ् समास अनार्यः। 'नीचोऽनार्योऽकुलीनोऽपि शठो दुर्वृत्त' इत्यमरः। 'संसर्गः संगमः सम्पर्क इति प्रोच्यते'। महात्मभिः=महान् आत्मा यस्यासौ महात्मा, तैः महात्मभिः। यहाँ पर 'समम्' का योग होने से 'सहयुक्तेऽप्रधाने' से तृतीया विभक्ति। विरोधः=विरुध्यते इति विरोधः। वि+रुध्+घञ्।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—काव्यलिंग से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलंकार क्योंकि महात्माओं के साथ विरोध के अच्छे होने का कारण 'भूतिं समुन्नयन्' इस वाक्य से व्यक्त कर दिया गया है।

विशेष—राजनीति में पटु वनेचर दुर्योधन के व्यवहार को व्यक्त करता हुआ कहता है कि उस दुर्योधन ने छलपूर्वक आपके राज्य पर अधिकार कर लिया है। इस कारण अपने दिखावटी सद्गुणों द्वारा आप पर अनुरक्त प्रजा को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। उसकी इच्छा है कि इस प्रकार मैं आपके गुणों से प्रभावित प्रजावर्ग को अपने में अनुरक्त कर सकता हूँ। पुनः आपको जीतने में सरलता रहेगी। यह सब आपके भय से कर रहा है क्योंकि सज्जनों से विरोध करना दुष्टों से मैत्री करने की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है॥ ८॥

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्॥९॥

अन्वय—कृतारिषड्वर्गजयेन, अगम्यरूपां मानवीम् पदवीम्, प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तन्दिवम् वितन्यते॥ ९॥

वाच्यान्तर—कृतारिषड्वर्गजयः अगम्यरूपां मानवीं पदवीं प्रपित्सुः अस्ततन्द्रिः सः नक्तन्दिवं विभज्य नयेन पौरुषं वितनोति॥ ९॥

कृतेति—षण्णां वर्गः षड्वर्गः। अरीणामन्तः शत्रूणां कामक्रोधादीनां षड्वर्गो अरिषड्वर्गः। शिवभागवतवत्समासः। तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन। विनीतेनेत्यर्थः। विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः। अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम्। मनोरिमां मानवीम्। मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः। पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रपत्तुमिच्छुना। प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। सनिमी-मा-इत्यादिनेसादेशः। 'अत्र-लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा। अनलसेनेत्यर्थः। तदिः सौत्रो धातुः। तस्मात् 'वङ्क्र्यादयश्च' इत्यौणादिकः क्रिन्प्रत्ययः 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्यः' इति। 'वन्दीघटीतरीतन्द्री' इति ङीषन्तोऽपि इति क्षीरस्वामी। तथा रामायणे प्रयोगः 'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेन दुर्योधनेन। पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः। उद्योग इति यावत्। युवादित्वादण्-प्रत्ययः। 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' विश्वः नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्। अहोरात्रयोरित्यर्थः। 'अचतुर'—इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्वनिपातेऽच् समासान्तः। विभज्यास्यां वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वितन्यते विस्तार्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि ६ आन्तरिक शत्रुओं को को जीतने वाला तथा अत्यन्त कठिन मनुस्मृति के अनुसार प्रजा-पालन-पद्धति को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला दुर्योधन आलस्य-रहित होकर दिन रात्रि का सम्यक् विभाजन करके न्यायपूर्वक अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने में लगा रहता है।

व्याख्या—कृतारिषड्वर्गजयेन=वशीकृतकामक्रोधादिषड्वैरिणा (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि आन्तरिक ६ शत्रुओं को विजित किया है जिसने) अगम्यरूपाम्=लोकदुरापाम् (सभी लोगों के लिये दुर्गम) मानवीम्=मनुसम्बन्धिनीम् (मनु से सम्बन्ध रखने वाली) पदवीम्=पद्धतिम् (प्रजापालन-पद्धति को) प्रपित्सुना =प्राप्तुमिच्छुना (प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला) अस्ततन्द्रिणा=निरलसेन (आलस्य रहित) तेन=दुर्योधनेन (उस दुर्योधन के द्वारा) नक्तन्दिवम्=अहोरात्रम् (रात दिन) विभज्य=विभागं कृत्वा (विभाग करके) पौरुषम्=उद्योगम् (उद्योग को) नयेन=न्यायेन (न्याय पूर्वक) वितन्यते=विस्तारित (किया जाता है)।

व्याकरण—कृतारिड्वर्गजयेन—षण्णां वर्गः षड्वर्गः, अरीणां षड्वर्गः, अरिषड्वर्गः कृतः अरिषड्वर्गस्य जयः येन सः तेन कृतारिषड्वर्गजयेन। यहाँ पर शिवभागवत समास हुआ है जैसे भगवतोऽयं भागवतः शिवस्य भागवतः शिवभागवतः।

अगम्यरूपाम्=न गम्यं रूपं यस्याः सा अगम्यरूपा ताम् अगम्यरूमाम् मानवीम्=मनोः इयं मानवी ताम् मानवीम् मनु+अण्+ङीप्। मनु को सम्पूर्ण शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था। इसी कारण उन्हें मनु कहा जाता है; जैसा मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने कहा है कि "सकलवेदार्थमननात् मनुः"।

पद्धतिम्=अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्त्तन्येकपदीति च" इत्यमरः।

प्रपित्सुना=प्रपत्तुमिच्छुः तेन प्रपित्सुना।

अस्ततन्द्रिणा—अस्ता तन्द्रिः यस्य सः अस्ततन्द्रिः तेन अस्ततन्द्रिणा। स्यान्निद्रा शयनं स्वापः संवेश इत्यपि। तन्द्री प्रमीला।" इत्यमरः।

नक्तन्दिवम्=नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम् यहाँ पर 'अचतुरविचतुर'=सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

विभज्य=वि+भज्+क्त्वा+ल्यप्।

पौरुषम्—पुरुषस्य इदं पौरुषम्। पुरुष=अण्।

छन्द—वंशस्थ।

विशेष—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह ६ मनुष्य के आन्तरिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शत्रु होते हैं। इन पर विजय प्राप्त करना मानवमात्र का कर्तव्य होता है, विशेष कर राजाओं के लिए तो इनको वश में रखना आवश्यक होता है। दुर्योधन बाह्य आडम्बर से इन सब को अपने वश में किये हुए हैं। इस प्रकार प्रजा को अपने में अनुरक्त करना चाहता है।

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स संततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

अन्वय—गतस्मयः सः, सन्ततम्, अनुजीविनः, प्रीतियुजः सखीन् इव, सुहृदः, च, बन्धुभिः, समानमानान्, बन्धुतां कृताधिपत्याम्, इव, साधु, दर्शयते ॥

वाच्यान्तरम्—गतस्मयेन तेन, अनुजीविनः प्रीतियुजः सखाय इव दृश्यन्ते। सुहृदः बन्धुभिः समानमाना इव दर्श्यन्ते। बन्धुता कृताधिपत्या इव दर्श्यते ॥

सखीनिवेति। गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः सन्ततमनारतं साधु सम्यक्। अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनो भृत्यान्। प्रीतियुजः स्निग्धान्सखीनिव मित्राणीव दर्शयते। लोकस्येति शेषः। 'हेतुमति च' इति णिच्। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदो मित्राणि च ' सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः इति निपातः। बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानांस्तुल्यसत्कारान् दर्शयते। बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम्। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'। कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते। बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः। भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्सम्भावयतीत्यर्थः। अनुजीव्यादीनाम् कर्तुरीप्सिततमं कर्म इति कर्मत्वम्। पूर्वं त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽनुजीव्यादीन् सख्यादीनिव दर्शयते। सख्यादय इव ते तु तं पश्यन्ति। सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते स्वयमेव छन्दानुवर्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः। अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम्। 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम्। एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे। भाष्ये तु प्रेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम्। यथाह—पश्यन्ति भृत्या राजा नम् 'दर्शयते, भृत्यान् राजा', 'दर्शयते भृत्यं राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति इति। अत्राह कैयटः—ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम्। उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते। अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावात्लेपदं न भवति। यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति। इह त्वण्यन्तावस्थायां कर्तृणां भृत्यानां णौ कर्मत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमिति।

अर्थ—अपने समस्त राजस्व के अहङ्कार का परित्याग करते हुए वह दुर्योधन स्नेही मित्रों के समान नौकरों के साथ व्यवहार करता है। साथ ही अभिन्न मित्रों से भाई के समान व्यवहार करता है और अपने भाइयों को शासन करते हुए-सा दिखाता है।

—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—गतस्मयः=गर्वरहितः (अहङ्काररहित) सः=दुर्योधनः (वह दुर्योधन) सन्ततम्=निरन्तरम् (सर्वदा, सदैव) अनुजीविनः=सेवकान् (नौकरों को) प्रीतियुजः=स्नेहयुक्तान् (अत्यन्त स्नेही) सखीनिव=मित्राणि इव मित्रों के समान) साधु=सम्यक् (ठीक प्रकार से) दर्शयते=पश्यति (देखता है) सुहृदश्च=मित्राणि च (मित्रों को) बन्धुभिः=निजपरिवारैः (अपने भाई बान्धवों के समान) समानमानान्=तुल्य-सत्कारान् (बराबर व्यवहार पूर्ण आदर) बन्धुताम्=परिवारसमूहम् (अपने परिवार वालों को) कृताधिपत्याम्=विहितसर्वाधिकराम् (समस्त अधिकारों से युक्त) अपने समान ही लोगों को दिखलाता है)

व्याकरण—१. गतस्मयः=गतः स्मयो यस्य स गतस्मयः । बहुव्रीहि । २. सन्ततम्=सम्+तन्+क्त सन्ततम् सम् पूर्वक तन् धातु से क्त प्रत्यय होने पर 'समो वा ततहितयोः' वार्तिक से तत और हित बाद में रहने पर उपसर्ग सम् के 'म्' का विकल्प से लोप हो जाता है। तन् के 'न्' का लोप 'अनुदात्तादेश्च' सूत्र से हो जाता है।

अनुजीविनः=अनु पश्चाद् जीवनं येषां ते अनुजीविनः तान् अनुजीविनः । अनु+जीव्+णिनि । यह दर्शयते क्रिया का कर्म है।

प्रीतियुजः=प्रीत्या युञ्जन्ति ये ते प्रीतियुजः तान् प्रीतियुजः । प्रीति+युज्+क्विन् ।

सुहृदः=सुष्ठु शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः तान् सुहृदः । 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रा-मित्रयोः' सूत्र से हृदय के स्थान पर हृदादेश होता है।

बन्धुभिः=बध्नन्ति प्रेम्णा इति बन्धवः तैः बन्धुभिः । बन्ध्+उण् ।

समानमानान्=समानो मानो येषां ते समानमानाः तान् समानमानान् ।

बन्धुताम्=बन्धूनां समूहः बन्धुता ताम् बन्धुताम् । बन्धु+तल् ।

कृताधिपत्याम्=अधिपाति इति अधिपतिः अधिपतेः कर्म आधिपत्यम् । कृतम् आधिपत्यं यस्याः सा ताम् कृताधिपत्याम् ।

दर्शयते=दृश्+णिच् लट् ते आत्मनेपद ।

छन्द—वंशस्थ ।

विशेष—राज्य प्राप्त करने के अनन्तर दुर्योधन अपने को परिवर्तित करने लगा। वह जानता था कि युधिष्ठिर आदि के प्रति प्रजा का बड़ा स्नेह है। यदि मेरे दुष्कृत्यों का उद्घाटन हो गया तो विद्रोह हो जाने की आशङ्का है। इसी कारण वह सबसे स्नेहपूर्ण व्यवहार रखता है। वह अभिमान का परित्याग कर अपने समस्त परि-वार के साथ तथा सेवकवर्ग के साथ सद्व्यवहार करता है। वह सेवकों के साथ मित्रों के समान व्यवहार करता है। यह शङ्का होती है कि यदि वह मित्रों के समान सेवकों को मानता है तो मित्रों के साथ कैसा व्यवहार करता है। इसके उत्तर में वह सखाओं को भाइयों के समान और भाइयों को तो राज्य का अधिकार देकर अपने समान ही मानता है। इस प्रकार उसने अपने सुन्दर आचरणों से सबके मन को जीत लिया है॥ १० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

अन्वय—यथायथं, विभज्य, समपक्षपातया, भक्त्या, असक्तम्, आराधयतः, अस्य, गुणानुरागात् सख्यम्, ईयिवान् इव त्रिगणः परस्परं न बाधते ॥

वाच्यान्तरम्—यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तमाराधयतोऽस्य गुणानुरागात् सख्यमीयुषा इव त्रिगणेन परस्परं न बाध्यते ॥

असक्तमिति। यथायथं यथास्वं विभज्य असंकीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः। 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनाद् द्विर्भावो नपुंसकत्वं च। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। पक्षे पातः पक्षपात आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया। भक्त्याऽनुरागविशेषेण पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः। पूज्यश्चायं त्रिवर्ग इति। असक्तमनासक्तम्। अव्यसनितयेति यावत्। आराधयतः सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणस्त्रिवर्गः 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैः चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः। गुणानुरागात् तदीयगुणेष्वनुरागात्। गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः। सख्यं मैत्रीम्। 'सख्युयः' इति य प्रत्ययः। उपेयिवानुपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः "नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्' इति काशिकाकार आह स्म। परस्परं न बाधते। समवर्तित्वादस्य 'धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः। उक्तं च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ॥

अर्थ—यथायोग्य समुचित रूप से समय को विभक्त करके, बराबर प्रेम से किसी के वश में न होकर सेवा करते हुये दुर्योधन के गुणों के प्रेम के कारण मित्रता को प्राप्त हुये के समान धर्म, अर्थ, काम यह त्रिगण एक दूसरे का विरोध नहीं करते थे। अर्थात् उस दुर्योधन ने धर्मानुष्ठान के लिए, राजकार्य के लिए, गृहस्थ-सुख तथा विश्राम के लिए यथायोग्य समय नियत कर रखे थे जिसके कारण कोई बाधा नहीं होती थी।

व्याख्या—यथायथम्=यथायोग्यम्, (समुचित रूप से) विभज्य=विभागं कृत्वा (विभाग करके) समपक्षपातया=तुल्यव्यवहारेण (पक्षपात रहित बराबर प्रेम से) भक्त्या=स्नेहेन (प्रेम से) असक्तम्=(अनासक्त रूप में) आराधयतः=सेवमानस्य (सेवन करते हुए) अस्य=दुर्योधनस्य (दुर्योधन के) त्रिगणः=धर्मार्थकामाः (धर्म, अर्थ और काम) गुणानुरागात्=गुणपक्षपातात् (गुणों के प्रेम से) सख्यम्=मैत्रीम् (मित्रता को) ईयिवानिव=प्राप्तवानिव (प्राप्त हुए के समान) परस्परम्=अन्योन्यम् (एक दूसरे का) न बाधते=न पीडयति (विरोध नहीं करते हैं) ॥

व्याकरण—यथायथम्='यथार्थं तु यथायथम्' इति अमरकोषः। जब यथा शब्द वीप्सा को सूचित करता है तो 'यथास्वम्' इस अर्थ को व्यक्त करने के कारण 'यथास्वे यथायथम्' इस सूत्र से द्वित्व निपातन होकर नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। फलतः 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इस सूत्र से अन्तिम आकार का ह्रस्व हो जाता है। यह अव्यय नहीं है॥

विभज्य=वि+भज्+क्त्वा—ल्यप्। यह यथायथम् का विशेष्य है॥

समपक्षपातया=पक्षे पातः पक्षपातः समः पक्षपातो यस्यां या समपक्षपाता तया समपक्षपातया।

भक्त्या=भज्+क्तिन्=भक्तिः तया भक्त्या।

असक्तम्=सञ्ज्+क्त=सक्तम्=न सक्तम् असक्तम् असक्तम् यथा स्यात् तथा। यह क्रिया आराधयतः का विशेषण है।

गुणानुरागात्=गुणेषु गुणानां वा अनुरागः गुणानुरागः तस्मात् गुणानुरागात्।

सख्यम्=सख्युः भावः सख्यम्। 'सख्युर्यः' से 'य' प्रत्यय होता है।

त्रिगणः=त्रयाणां गणः त्रिगणः (त्रिवर्गः धर्मार्थकामः)

परस्परम्—अन्योन्यम् परम् परम् इति परस्परम्। "कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" इस वार्तिक से समास तथा कम 'परम्' को द्वित्व हो गया। वार्तिक का अर्थ है कि कर्म के व्यतिहार अर्थात् विनिमय सूचित करने के लिए सर्वनाम को द्वित्व हो जाता है और समास भी प्रायः कर दिया जाता है। यह कहीं पर नहीं भी होता। इस वार्तिक में प्रयुक्त 'बहुलम्' इस पद से प्रतीत होता है, क्योंकि बहुलम् का यही अर्थ है कि कहीं पर प्रयुक्त हो और कहीं पर न हो। यहाँ पर परं क्रिया का व्यतिहार है अतः बहुल पद के ग्रहण से 'परंपरम्' भी प्रयोग होता है। परन्तु "अन्यपरयोः न समासवत्" इस पाणिनि-नियम से अन्य और पर को समास नहीं होता। समास न होने पर 'सुप्' को सु हो गया फलतः सु को विसर्ग और विसर्ग को स् होकर 'परस्परम्' सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्योन्यम् भी सिद्ध होता है। "मिथोऽन्योऽन्यम् परस्परम्" यह कोष है।

छन्द—वंशस्थ "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"

विशेष—शास्त्र का कथन है कि 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः सजनो जघन्यः' अर्थात् धर्म, अर्थ और का काम का बराबर सेवन करना चाहिए जो व्यक्ति एक ही के सेवन में आसक्त रहता है वह निन्दनीय है। अतः कुशल शासक का यह परम कर्तव्य है कि इन तीनों का सेवन समान रूप से करे। दुर्योधन इसी प्रकार का शासक है। अतः जब वह धर्म का सेवन करता है तो और अर्थ काम बाधा नहीं पहुँचाते। इसी प्रकार जब वह अर्थ का सेवन करता है तो धर्म और काम बाधक नहीं होते। यही क्रम काम के सेवन करते समय भी है। अतः वनेचर युधिष्ठिर से कहता है कि वह दुर्योधन इस समय समदर्शी होकर योग्यतापूर्वक शासन करता है।

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया॥१२॥

अन्वय—तस्य, निरत्ययं, दानवर्जितं, साम, न (प्रवर्तते) सत्क्रियां विरहय्य, भूरि, दानं, न (प्रवर्तते)। विशेषशालिन्या सत्क्रियया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्यान्तरम्—निरत्ययेन साम्ना दानवर्जितेन न (प्रवर्तते) सत्क्रियां विरहय्य भूरिणा दानेन न (प्रवर्तते)। विशेषशालिनी सत्क्रियया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते ॥

निरत्ययमिति। तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम्। अमायिकमित्यर्थः। अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः। साम सान्त्वम्। 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः। दानवर्जितं न प्रवर्तते। अन्यथा लुब्धाच्चावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः। उक्तं च—'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा। मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥' इति। यथा भूरि प्रभूतम् न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः। दानं धनत्यागः। सदित्यादरार्थेऽव्ययम् 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात्। तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशो न प्रवर्तते। अनादरे दानवैफल्यादिति भावः। नचैवं सर्वत्रनयेनाविवेकित्वं कोशहानिश्च स्यादित्याह-प्रेति। विशेषशालिन्यतिशयोगिनी सत्क्रियाऽऽदरक्रिया गुणानुरागेण विना न प्रवर्तते।

पृथग्विना—इत्यादिना तृतीया। गुणेष्वादरो भूरिदानं चेति नोक्तदेशावकाश इत्यर्थः। अत्रोत्तरस्य पूर्वपूर्व—विशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे 'स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम्। विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा'।

अर्थ—दुर्योधन की सान्त्वनापूर्ण मधुर वाणी बिना दान के नहीं होती, दान भी सत्कारपूर्वक ही होता है और सत्कार भी गुण और योग्यता के अनुसार ही होता। तात्पर्य यह है कि वह केवल मधुर वचनों से अपना कार्य नहीं करता अपितु दान भी देता है, दान सत्कारपूर्वक और सत्कार योग्यतानुसार ही करता है।

व्याख्या—तस्य=दुर्योधनस्य (दुर्योधन की) निरत्ययम्=निर्विघ्नम् (बिना किसी प्रकार के विघ्न से अर्थात् बाधा रहित) दानवर्जितम्=दानशून्यम् (धन प्रयोग के बिना) साम=प्रियवचनम् (मधुरवाणी) सत्क्रियाम्=आदरम् (आदर को) विरहय्या=विहाय (त्याग करके) भूरि=बहुलम् (अधिक) दानम्=धन प्रयोगः (धन का वितरण) विशेषशालिनी=प्रशंसनीया (प्रशंसा योग्य) सत्क्रिया=सत्कारः (सत्कार) गुणानुरोधेन विना=गुणानुरागेण विना (गुणों की योग्यता के बिना) न प्रवर्तते=न भवति (नहीं होता) है ॥

व्याकरण—निरत्ययम्=निर्गतः अत्ययो यस्मात् तद् निरत्ययम् निर्+अति+इ धातु से अच् प्रत्यय होकर यह प्रयोग सिद्ध होता है "अत्ययोऽति क्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽप्ययापदि" इति कोशः।

दानवर्जितम्=दानेन वर्जितम् दानवर्जितम्। दा+ल्युट्=दानम्। वृज्+णिच्+क्त=वर्जितम्।

विरहय्य=वि+रह+णिच्+ल्यप्।

विशेषशालिनी=विशेषेण शालते शोभते या सा विशेषशालिनी।

गुणानुरोधेन=गुणानामनुरोधः गुणानुरोधः तेन गुणानुरोधेन। यहाँ पर बिना के योग में 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' से तृतीया विभक्ति हुई। 'अनुरोधोऽनुवर्त्तनम्' यह कोशवचन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्द—वंशस्थ ।

अलंकार—एकावली । जहाँ पूर्व पूर्व वाक्य के प्रति उत्तर उत्तर वाक्य विशेषण रखे जायें वहाँ एकावली अलङ्कार होता है "स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथा पूर्वं परं परम् । विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ॥" काव्यप्रकाशे ॥

विशेष—वनेचर कहता है कि राजनीतिशास्त्र का कुशल पण्डित दुर्योधन इस समय जैसा अवसर देखता है उसी प्रकार अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखने का प्रयास करता है । वह मधुरवाणी तथा अत्यधिक दानपूर्वक प्रजा के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है । पर यह दान सम्मानपूर्वक करता है जिससे सभी उसके गुणों तथा नम्र स्वभाव की प्रशंसा करें । वह दुर्योधन गुणों को जानने वाला है, अतः योग्यतानुसार योग्य व्यक्तियों का सत्कार करता है अयोग्य व्यक्तियों का नहीं । इस समय वह इस नीति का पालन अक्षरशः कर रहा है ।

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् साधुमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥

वसूनि वाञ्छन् न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

अन्वय—वशी, सः (दुर्योधनः), वसूनि वाञ्छन् न, मन्युना न, निवृत्तकारणः (सन्) स्वधर्मः एव (एक) इति, गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ वा सुते अपि धर्मविप्लवं निहन्ति ॥

वाच्यान्तरम्—वशिना तेन, वसूनि वाञ्छता न, मन्युना न, स्वधर्म एवेति निवृत्तकारणेन (दुर्योधनेन) गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुतेऽपि वा धर्मविप्लवो निहन्यते ।

वसूनीति । वशी दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न । लोभान्नेत्यर्थः । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । निहन्तीति शेषः । तथा मन्युना कोपेन न च । "मनुर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि" इत्यमरः । "धर्मं शास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः" इति स्मरणादित्यर्थः । किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्स्वधर्म इत्येव । स्वस्य राज्ञः, सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्त्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः "अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।" इति स्मरणादिति भावः । गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन । 'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद् व्यवहारानुक्रमात् ।' इति नारदस्मरणात् । दण्डेन दमेन । शिक्षयेत्यर्थः । रिपौ सुतेऽपि वा । स्थितमिति शेषः । एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम् । धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम् । अधर्ममिति यावत् । निहन्ति निवारयति । दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्टः एव बन्धुः । न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ।

अर्थ—अपने अधीन सबको रखने वाला यह जितेन्द्रिय दुर्योधन, न तो धन एकत्र करने की इच्छा से, और न क्रोध के कारण ही किसी को कुछ दण्ड देता है । अपितु दुष्ट अपराधियों को दण्ड देना मेरा धर्म है यह समझकर वह लोभ और क्रोध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से निवृत्त होकर गुरु, धर्माधिकारियों के उपदेश के अनुसार चाहे शत्रु हो अथवा पुत्र ही क्यों न हो वह सब पर समदृष्टि रखता हुआ जिसको अन्यायी समझता है उसे दण्ड देता है। न्याय के सामने शत्रु और पुत्र उसके लिये समान हैं।

व्याख्या—वशी=जितेन्द्रियः (इन्द्रियों को वश में रखने वाला, सबको अपने अधीन रखने वाला) सः=दुर्योधनः (वह दुर्योधन) वसूनि=धनानि (धन को) वाञ्छन्=इच्छन् (चाहता हुआ) न=नैव (नहीं) मन्युना=क्रोधेन (क्रोध से) न=नैव (नहीं) निवृत्तकारणः=कारणरहितः (लोभ, क्रोध आदि कारणों से रहित) स्वधर्मः एव इति=राजधर्म एव अयमिति (यह राजधर्म है ऐसा सोचता हुआ) गुरूपदिष्टेन=मनूपदिष्टेन (मनु आदि शास्त्रकारों के उपदेश द्वारा) दण्डेन=शासनेन (शासन से) रिपौ=शत्रौ (शत्रु में) सुते=पुत्रे (पुत्र में भी) धर्मविप्लवम्=धर्मविरुद्धम् (धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले को) निहन्ति=दण्डयति (दण्ड देता है)।

व्याकरण—वशी—वशः अस्ति अस्य इति वशिन् प्रथमा एकवचन वशी वश+इनि प्रत्यय होकर वशी-वशिनौ-वशिनः।

वसूनि—नपुसंक लिङ्ग "वसु तोये धने मणौ" इति कोशः।

वाञ्छन्—वाञ्छति इति वाञ्छन्। वाञ्छ्+शतृ=वाञ्छन्।

निवृत्तकारणः—निवृत्तानि कारणानि यस्मात् स निवृत्तकारणः। नि+वृत्+क्त=निवृत्तः, कृ+णिच्+ल्युट्=कारणम्, "हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादि-कारणम्" इत्यमरः।

स्वधर्मः—स्वस्य धर्मः स्वधर्मः।

गुरूपदिष्टेन—गुरुणा उपदिष्टः गुरूपदिष्टः तेन गुरूपदिष्टेन। उप+दिश+क्त=उपदिष्टः।

दण्डेन—दण्डयते अनेन इति दण्डः तेन दण्डेन।

धर्मविप्लवम् धर्मस्य विप्लवः धर्म विप्लवः तम् धर्म विप्लवम्। ध्रियते अनेन इति धर्मः धृ+मन्=धर्मः। वि+प्लु+अप्=विप्लवः।

विशेष—राजा दुर्योधन अपने न्याय के बल पर सभी प्रजा को अपने वश में रखता है साथ ही वह अपनी इन्द्रियों पर भी पूर्ण अधिकार रखता है। इस प्रकार वह वशी दुर्योधन यह अच्छी प्रकार जानता है कि राज्य न्याय पर ही आधारित रहता है। अतः वह पक्षपात रहित शत्रु तथा मित्र एवम् अपने पुत्र पर निष्पक्ष रूप व्यवहार करता है। यदि वह प्रजा को किसी प्रकार का दण्ड देता है तो धन-प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती और न वह किसी पर असन्तुष्ट होकर ही क्रोध पूर्वक दण्ड देता है उसका एक मात्र उद्देश्य राज्य-शासन-व्यवस्था को ठीक रखना है। राज्य-शासन-व्यवस्था में यदि राजा दण्डनीय को दण्ड न देकर अदण्डनीय को दण्ड देता है तो अयश तथा अपनित होता है। स्मृति के अनुसार भी "अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्य-दण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥" नारद ने भी कहा है कि "धर्म-शास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः। समाहितमतिः पश्येत् व्यवहाराननुक्रमात्" ॥ १३ ॥

--

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

81-83

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्कितताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

अन्वय—शङ्कितः (सन्नपि) परितः, परेतरान् रक्षान् विधाय, अशङ्किताकारम् उपैति। क्रियाऽपवर्गेषु, अनुजीविसात्कृताः सम्पदः, अस्य कृतज्ञतां वदन्ति ॥१४॥

वाच्यान्तरम्—शङ्कितेन तेन परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपेयते, क्रियाऽपवर्गेषु अनुजीविसात्कृताभिः सम्पद्भिरस्य कृतज्ञता उच्यते।

विधायेति। शंका सञ्जातास्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन्परितः सर्वत्र स्वपरमन्डले परेतरानात्मीयान्। अवञ्चकानिति यावत्। यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्ति इति परेतरान्। 'तत्करोतीति' ण्यन्तात्कर्मण्यण् प्रत्ययः। रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान्। मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः। 'नन्दिग्रही—'त्यादिना पचाद्यच्। विधाय कृत्वा। नियुज्येत्यर्थः। अशङ्किताकारमुपैति। स्वयमविश्वस्तोऽपिविश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखेनैव परान् भिनत्तीत्यर्थः न तान्रक्षानुपेक्षेते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति क्रियाऽवपर्गेषु कर्ममसाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः। 'देये त्रा च' इति साति प्रत्ययः। सम्पदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति। प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्व प्रकाश्यते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः। कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः।

अर्थ—वह दुर्योधन हर समय सशङ्कित रहता हुआ भी चारों ओर अपने विश्वासी रक्षकों को नियुक्त कर स्वयम् निर्भय-सा रहता है। कार्यों की समाप्ति पर सेवकों को दी गई सम्पत्ति ही इसकी कृतज्ञता को व्यक्त करती है ॥

व्याख्या—शङ्कितः=सन्देहशीलः सन् (किसी पर विश्वास न करता हुआ) परितः =सर्वतः (चारों ओर अपने राष्ट्र में तथा परराष्ट्र में) परेतरान्=स्वकीयान् (अपने विश्वसनीय लोगों को) अथवा परेतरान्=भेदनीतिनिपुणान् (भेदनीति में चतुर लोगों को) रक्षान्=रक्षकान् (रक्षा करने वालों को) विधाय=कृत्वा (करके) अशङ्किताकारम्=निर्भयम् (निर्भय के समान) उपैति=प्राप्नोति (व्यवहार करता है)। क्रियापवर्गेषु=कार्यसमाप्तिषु (कार्य की समाप्ति होने पर) अनुजीविसात्कृताः=अनुचरायत्तीकृताः (सेवकों को दी हुई) सम्पदः=धनानि। (सम्पत्तियाँ अस्य=दुर्योधनस्य (राजा दुर्योधन की) कृतज्ञताम्=उपकारज्ञताम् (कृतज्ञता) वदन्ति=प्रकटयन्ति (कहते हैं)।

व्याकरणम्—शङ्कितः—शङ्का सञ्जाता अस्य इति शङ्कितः।

परेतरान्=परेभ्यः इतरेपरेतरे तान् परेतरान्। इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की जाती है परान् शत्रून् इतरयन्ति पृथक् कुर्वन्ति इति परेतराः तान् परेतरान्। इसका अर्थ यह होगा कि भेदनीति से चतुर तथा शत्रु के मित्रों को अपनी ओर आकर्षित करने वाले।

रक्षान्—रक्षन्ति इति रक्षाः तान् रक्षान्। रक्ष+अच्। इसका अर्थ यह है कि कौन व्यक्ति किस अभिप्राय से क्या कार्य करता है इस बात को गुप्त रीति से ज्ञात करने वालों को।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधाय—वि+धा+क्त्वा—ल्यप्

अशङ्कितःकारम्—शङ्का सञ्जाता अस्य शङ्कितः न शङ्कितः अशङ्कितः अशङ्कितः आकारोऽशङ्किताकारः तम् अशङ्किताकारम् । आ+कृ+घञ्+आकारः ।

क्रियापवर्गेषु—क्रियायाः अपवर्गः क्रियापवर्गः तेषु क्रियापवर्गेषु । अप-वृज्+णिच्+घञ् अपवर्गः । यहाँ पर 'क्रियावर्गेषु सत्सु' इस अर्थ के अनुसार "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" सूत्र से सप्तमी हुई ।

अनुजीविसात्कृताः—अनुजीविनाम् अधीनाः कृताः अनुजीविसात्कृताः । अनु+जीव्+णिनि । कृ+क्त+टाप् स्त्रियाम् कृता । यहाँ पर "देये त्रा च" इस सूत्र से साति प्रत्यय होता है ।

कृतज्ञताम्—कृतं जानाति इति कृतज्ञः, कृतज्ञस्य भावः कृतज्ञता ताम् । कृत+ज्ञा+क=कृतज्ञ+ताम+टाप् ॥

विशेष—राजनीति में साम, दाम, दण्ड, भेद इन चार नीतियों का प्रयोग करना आवश्यक होता है । इसी कारण द्यूत के द्वारा जीती हुई वसुधा पर राज्य करने के लिये वह दुर्योधन जब किसी ओर शंकित होता है तो उनके भेद को जानने के लिए अपने विश्वासपात्र भृत्यों गुप्तचरों को नियुक्त करता है । स्वयं वह दुर्योधन मन्त्री सेना अन्तःपुर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र में तथा अपने अनुजीवियों पर अविश्वस्त होता हुआ भी विश्वास-सा करता है । या शत्रु तथा मित्रों में अविश्वस्त होता हुआ भी उनके साथ विश्वासपूर्ण व्यवहार करता हुआ भेदनिपुण अपने गुप्तचरों के द्वारा उन्हें भेदित करता है । स्वयं कुछ न जानते हुए के समान व्यवहार करता है । भृत्य लोग पुरस्कार-प्राप्ति के लोभ से दत्तचित्त होकर बड़ी लगन से कार्य को पूरा करने का प्रयास करते रहते हैं ॥ १४ ॥

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः ।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अन्वय—तेन पदेषु सम्यग् विभज्य लम्भिताः विनियोगसत्क्रियाः, उपायाः संघर्षम्, उपेत्य इव, परिबृंहितायतीः, अर्थसम्पदः, अनारतम्, फलन्ति ॥

वाच्यान्तरम्—विनियोगसत्क्रियैरुपायैरर्थसम्पद. फल्यन्ते ॥

अनारतमिति । तेन राज्ञा पदेषूपादेयवस्तुषु । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । सम्यगसंकीर्णमव्यस्तं च विभज्य विविच्य । विनियोग एवं सत्क्रियाऽनुग्रहः । सत्कार इति यावत् । यासां ताः लम्भिताः स्थानेषु सम्यक् प्रयुक्ता इत्यर्थः । उपायाः सामादयः । संघर्ष परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा । परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तर-कालाः । स्थिरा इत्यर्थः । अर्थसम्पदीऽनारतमजस्रं फलन्ति । प्रसुवत इत्यर्थः ॥

अर्थ—वह दुर्योधन प्रत्येक विषयों में जो साम, दाम, दण्ड, भेद उपायों को लगाता है वे मानो एक दूसरे से स्पर्धा रखते हुए के समान भविष्य में उन्नतिशील होकर अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ फलती हैं अर्थात् उसे प्रत्येक कार्य में सफलता तथा लाभ ही होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—तेन=राज्ञा दुर्योधनेन (राजा दुर्योधन के द्वारा) पदेषु=वस्तुषु (योग्य स्थान पर) सम्यक्=यथायथम् (अच्छी प्रकार से) विभज्य=विभागं कृत्वा (विभाग करके) लम्भिता=सम्यक् प्रयुक्ताः (स्थान पर ठीक प्रकार से प्रयुक्त) विनियोगसत्क्रियाः=समुचितप्रयोगसत्काराः (समुचित यथायोग्य सत्कार को प्राप्त हुए) उपायाः=सामदानादयः (साम, दाम, दण्ड, भेद आदि) संघर्षम्=परस्परस्पर्धाम्= (परस्पर एक दूसरे से स्पर्धा को) उपेत्य=प्राप्य (प्राप्त करके) परिबृंहितायतीः= परिवर्द्धितोत्तरकालाः (भविष्य में उन्नति को देने वाली) अर्थसम्पदः=धनसम्पत्तीः (धन सम्पत्ति आदि) अनारतम्=निरन्तरम् (लगातार अहर्निश) फलन्ति=सिद्धयन्ति (सिद्ध होते हैं)।

व्याकरणम्—पदेषु—पद शब्द का प्रयोग कोष के अनुसार "पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु" अर्थों में होता है। यहाँ पर 'वस्तु' अर्थ में हुआ है।

सम्यक्—सम्+अञ्च्+क्विन्=सम्यक् 'अञ्च्' धातु के रहने पर सम् के स्थान पर समि आदेश हो जाता है।

विभज्य—वि+भज्+क्त्वा—ल्यप्।

लम्भिता=लभ+णिच्+क्त। यहाँ पर 'लभेश्च' सूत्र से नुमागम हो गया।

विनियोगसत्क्रियाः—विनियोग एव सत्क्रिया यासां ताः विनियोगसत्क्रियाः वि+नि+युज्+घञ्।

उपायाः—उपैति उपायते वा एभिः इतिः उपायाः। उप+इ+अच्।

संघर्षम्—सम्+घृष्+घञ् (भाव में)।

उपेत्य—उप्+इ+क्त्वा—ल्यप्।

परिबृंहितायतीः—परिबृंहिता आयतिः यासां ताः परिबृंहितायतीः। आयति शब्द का प्रयोग भविष्य काल के लिए मेदिनी कोष के अनुसार किया जाता है "आयतिस्तु स्त्रियां दैर्घ्ये प्रभावागमिकालयोः।" परि+बृंह्+णिच्+क्त। आ+यम्+क्तिन्=आयतिः—आ+या+डति=आयतिः।

अर्थसम्पदः—अर्थानाम् सम्पदः ताः अर्थसम्पदः। सम्+पद्+क्विप् भावे= सम्पदः।

अनारतम्—न आरतम् अनारतम्। आ+रम्+क्त। इसका प्रयोग कोश के अनुसार "सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्" अर्थों में होता है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्"।

विशेष—राजा दुर्योधन अच्छी प्रकार से विचार करके ही शत्रु, मित्र, दुर्जन तथा सज्जन आदि को अपनी ओर मिलाने के लिए किस समय किस उपाय से काम लेना चाहिए इस प्रकार का प्रयोग करता है। इसके लिये वह अपने प्रत्येक कार्य में बड़ी सतर्कता का प्रयोग करता है। जिसका परिणाम यह होता है कि समृद्धियाँ अपने आप मानो एक दूसरे से स्पर्धा करते हुए उसके पास पहुँच जाती हैं। अपने आप किये गए कार्य में उसे कभी असफलता नहीं प्राप्त होती ॥१५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम् ।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥१६॥

अन्वय—अयुग्मच्छदगन्धिः, नृपोपायनदन्तिनां मदः, अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं, तदीयम्, आस्थाननिकेतनाजिरं, भृशम्, आर्द्रतां नयति ।

वाच्यान्तरम्—अयुग्मच्छदगन्धिना, नृपोपायनदन्तिनां मतेन, अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं, तदीयम्, आस्थाननिकेतनाजिरम् भृशम् आर्द्रतां नीयते ।

अनेकेति । अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छद गन्धिः । 'सप्तम्युपमान' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः । नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां मदः । 'उपायनमुपग्राह्य-मुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः । 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः । राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणादन् रथाश्वाश्वाश्च रथाश्वम् । सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः । अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन संकुलं व्याप्तं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गणं भृशमत्यर्थमार्द्रतां पङ्किलत्वं नयति । एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता । अत एवोदात्तालङ्कारः । तथा चालङ्कारसूत्रम्—समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति ।

अर्थ—सप्तपर्ण के फूल की गन्ध के समान गन्ध वाले, राजाओं से उपहार में प्राप्त हुये हाथियों का मदजल अनेक राजाओं के रथ और घोड़ों से पूर्ण उस दुर्योधन के आँगन को गीला अर्थात् कीचड़ युक्त बना देता है ।

व्याख्या—अयुग्मच्छदगन्धिः=सप्तपर्णसुगन्धिः (सप्तपर्ण की गन्ध के समान गन्ध वाला) नृपोपायनदन्तिनाम्=भूपोपहारीकृतगजानाम् (राजाओं से भेंट में प्राप्त हाथियों का) मदः=दानवारि (मदजल) अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलम्=नानानरपतिरथाश्वपरिपूर्णम् (अनेक राजाओं के रथों तथा अश्वों से भरे हुये) तदीयम्=दुर्योधनीयम् (दुर्योधन का) आस्थाननिकेतनाजिरम्=राजसभामण्डपाङ्गणम् (राजसभा का आँगन) भृशम्=अत्यर्थम् (अधिक) आर्द्रताम्=पङ्किलत्वम् (गीलेपन को, कीचड़ को) नयति=प्रापयति (प्राप्त कर लेता है) ।

व्याकरणम्—अयुग्मच्छदगन्धिः—न युग्मम् अयुग्मम् अयुग्मानि छदानि यस्य असौ अयुग्मच्छदः । अयुग्मच्छदस्य गन्ध इव गन्धो यस्य स अयुग्मच्छदगन्धिः । अयुग्म से तात्पर्य विषम से है यह छतौन नामक वृक्ष के पत्ते के लिए प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ 'सप्त' भी होता है । कोश के अनुसार भी "सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः" । यहाँ समास करने से प्राप्त दूसरे गन्ध शब्द का "सप्तम्युपमानपूर्वस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः" इस वार्तिक से समास होकर लोप हो जाता है । वार्तिक का अर्थ है कि सप्तमी में प्रयुक्त पद तथा उपमानपद पूर्व में आने पर समास होता है तथा उत्तर पद का लोप हो जाता है । यह कार्य होने पर 'अयुग्मच्छदगन्धः' यह होता है । ऐसी दशा में "उपमानाच्च" इस सूत्र से गन्ध शब्द के अन्त में अकार को इकार हो जाता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नृपोपायनदन्तिनाम्—दन्तौ एषां स्तः इति दन्तिनः उपायनानि दन्तिनः इति उपायनदन्तिनः नृपाणां ये उपायनदन्तिनः नृपोपायनदन्तिनः तेषां नृपोपायनदन्तिनाम्। नृन् पाति इति नृपः नृ=पा+क। उप+अय्+ल्युट्=उपायन "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा" इत्यमरः।

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलम्—राज्ञां समूहो राजन्यः (वा) राज्ञामपत्यानिपुमांसो राजन्याः, अनेके च ते राजन्याः, अनेकराजन्याः, रथाश्च अश्वाश्च इति रथाश्वम्, अनेकं राजन्यरथाश्वम् इति अनेकराजन्यरथाश्वम् अनेकराजन्यरथाश्वेन सङ्कुलम् इति अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलम्। राजन्+यत् (राजश्वशुराद् यत्) सूत्र से यत् प्रत्यय। भाव और कर्म को छोड़कर अन्यत्र शब्दों के बाद यकारादि तद्धित प्रत्यय आने पर अन्त 'न' का लोप नहीं होता। अतएव 'राजन्यः' में न का लोप नहीं हुआ।

तदीयम्=तस्य इदम् तदीयम्। तद्+छ+ईय+तदीयम्।

आस्थाननिकेतनाजिरम्—आस्थीयते अस्मिन् इति आस्थानम्, आस्थानस्य निकेतनम् इति आस्थाननिकेतनम्, आस्थाननिकेतनस्य अजिरम् इति आस्थाननिकेतनाजिरम्। आ+स्था+ल्युट्=आस्थानम्। नि+कित्+ल्युट्=निकेतनम्। "अङ्गणं चत्वराजिरे" इति कोशः। आर्द्रताम्=आर्द्रस्य भावः आर्द्रता ताम् आर्द्रताम्। अर्द्र+तल् (स्त्रियाम्)।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—उदात्त। इस पद्य में दुर्योधन के महद् ऐश्वर्य का वर्णन होने के कारण उदात्त अलङ्कार है "लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनमुदात्तः" सा० द० अलङ्कार सूत्र में भी कहा है कि=समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः"।

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति ॥१७॥

अन्वय—चिराय, तस्मिन् क्षेमं, वितन्वति, अदेवमातृकाः, कुरवः, अकृष्टपच्याः, इव, कृषीवलैः, सुखेन, लभ्याः सस्यसम्पदः, दधतः, चकासति।

वाच्यान्तरम्—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति (सति) अदेवमातृकैः कुरुभिः अकृष्टपच्या इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधद्भिः चकास्यते॥

सुखेनेति। चिराय तस्मिन्दुर्योधने क्षेत्रं वितन्वति क्षेमङ्करे सति। देवः पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृका वृष्टयम्बुजीविनो देशाः। ते न भवन्तीत्यदेवमातृकाः। नदीमातृकाः इत्यर्थः। 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्।' इत्यमरः। एतेनास्य कुल्यादिपूर्वप्रवर्तकत्वमुक्तम्। कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः। कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्याः। 'राजसूय' इत्यादिना कर्मकर्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः। तद्विपरीता अकृष्टपच्या इव कृषिर्येषामस्तीति तैः कृषीवलैः। कर्षकैरित्यर्थः। 'रजः कृषि—' आदिना वलच् प्रत्ययः। 'वले' इति दीर्घः। सुखेनाक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नुमागमप्रतिषेधः । चकासति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते इत्यर्थः । 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । सम्पन्नजनपदत्वादसन्तापकत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः ॥

अर्थ—बहुत दिनों से प्रजाओं का हित साधने के लिये उपाय करते हुये राजा दुर्योधन के आधिपत्य में अदेवमातृक कुरुदेश बिना जोती हुई भूमि पर पकने वाली के समान तथा बिना परिश्रम ही किसानों द्वारा प्राप्त होने योग्य धन सम्पत्ति को धारण करता हुआ सुशोभित है ।

व्याख्या—चिराय=चिरकालम् (बहुत समय तक) तस्मिन्=दुर्योधने (दुर्योधन) क्षेमम्=कुशलम् (मंगल तथा हित कार्यों को) वितन्वति=कुर्वति सति (करते रहने पर) अदेवमातृकाः=वृष्ट्यम्बुनिरपेक्षाः (वर्षा के जल पर आधारित न रहने वाले) कुरवः=कुरुदेशनिवासिनः (कुरुदेश में रहने वाले) अकृष्टपच्या=अकर्षण-सिद्धाः स्वयमेव पच्यमानाः (बिना जोती हुई भूमि पर पकने वाली) कृषीवलैः=कृषकैः (किसानों द्वारा) सुखेन=अप्रयासेन (बिना परिश्रम के ही) लभ्याः=प्राप्याः (प्राप्त होने वाली) सस्यसम्पदः=धान्यादिसम्पत्तीः (धान्य-सम्पत्ति को) दधतः=धारयन्तः (धारण करता हुआ) चकासति=शोभन्ते (शोभित होते हैं) ।

व्याकरणम्—वितन्वति—वि+तन्+शतृ वितन्वन् स०ए०व० वितन्वति ।

अदेवमातृकाः—देव एव माता येषां ते देवमातृकाः न देवमातृकाः इति अदेव-मातृकाः 'नद्यृतश्च' सूत्र से 'मातृकाः' में कप् प्रत्यय हुआ है । देश दो प्रकार के होते हैं । एक देवमातृक दूसरे नदीमातृक। पहले प्रकार के देश में वर्षा के जल से खेतों में सिंचाई होती है ! कि.ानों को खेत सींचने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता और अनाज की प्राप्ति सरलता से हो जाती है । दूसरे प्रकार के देश में नदी, नहर, कुआँ, बावली आदि का निर्माण कराकर बड़े परिश्रम से खेतों तक पानी पहुँचाया जाता है । इस कारण अन्न की प्राप्ति कठिनाई से होती है । इन दोनों का भेद अमरकोश में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"देशो । नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः । स्यान्नदी-मातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्" । प्रयुक्त अदेवमातृक पद यह सूचित करता है कि देश देवमातृक नहीं है ।

कुरवः—कुरूणां निवासाः जनपदविशेषाः कुरवः ।

अकृष्टपच्याः—कृष्टेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः न कृष्टपच्याः इत्यकृष्टपच्याः; कृष्+क्त=कृष्ट । पच्+क्यप्=पच्याः ।

कृषीवलैः—कृषिरस्ति येषां ते कृषीवलाः तैः कृषीवलैः । कृषि+वलच् । मत्वर्थीय वलच् प्रत्ययः "रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्" से हुआ है । "क्षेत्राजीव कर्षकश्च कृषीवलः" इत्यमरकोशः ।

लभ्याः—लब्धुं शक्या इति लभ्याः—लभ+यत् ।

सस्यसम्पदः—सस्यस्य सम्पदः सस्यसम्पदः ।

दधतः—धा+शतृ ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्द—वंशस्य।
अलंकार—उपमा।

विशेष—वनेचर राजा युधिष्ठिर से कहता है कि वहाँ से आपके चले आने के पश्चात् उस वर्तमान राजा दुर्योधन ने सिंचाई के अभाव को पूर्ण कर दिया है। इस प्रकार नहर; सरोवर तथा बाँध आदि खेती के उपयोगी सब साधनों की बहुलता के कारण कुरुदेश पर वर्षा की कमी का खेती पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। तथा बिना अधिक परिश्रम किये हुए ही अन्न आदि की प्राप्ति उसी प्रकार सरलता से हो जाती है जैसे बिना जोती हुई भूमि पर अन्न मिल जाय। इस प्रकार वह सब प्रकार से अपने को पुष्ट बना रहा है ॥१७॥

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

अन्वय—उदारकीर्तेः, दयावतः, अभिरक्षया, प्रशान्तबाधम्, उदयं, दिशतः, वसूपमानस्य, अस्य, गुणैः, उपस्नुता, मेदिनी, स्वयं, वसूनि प्रदुग्धे ॥

वाच्यान्तरम्—उपस्नुतया मेदिन्या स्वयं वसूनि प्रदुह्यन्ते।

उदारेति। उदारकीर्तेर्महायशसः। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः। अतएव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् उदयविशेषणं वा। 'वा दान्तशान्त' इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तन्निष्ठान्तो निपातः। अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य। 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः। अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनी वसूनि धनानि। 'वसु तोयं धने मणौ' इति वैजयंती। स्वयं प्रदुग्धे। अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः। दुहेः कर्मकर्तरि लट्। 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः। यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः। अलंकारस्तु—'विशेषणमार्गसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति सवस्वकारः। अत्र प्रतीमानया गवा सह प्रकृताङ्गया मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति संक्षेपः ॥

अर्थ—निर्मल यश तथा दया वाले और सभी प्रकार की रक्षा द्वारा प्रजाओं की बाधा रहित उन्नति करते हुए कुबेर के समान उसके गुणों से द्रावित हुई पृथ्वी स्वयं धन रूप दूध देती है।

व्याख्या—उदारकीर्तेः=महायशसः (महान् यश वाले का) दयावतः=दयाशीलस्य (दयावान् का) अभिरक्षया=सर्वतोरक्षणेन (सभी प्रकार की रक्षा से) प्रशान्तबाधम्=बाधारहितम् (बाधाओं से रहित) उदयम्=उन्नतिम् (उन्नति को) दिशतः=सम्पादयतः (सम्पादित करते हुए) वसूपमानस्य=कुबेरोपमस्य (कुबेर के समान) अस्य=दुर्योधनस्य (दुर्योधन का) गुणैः=दयादिगुणैः (दया दक्षिण्य गम्भीरता उदारता पराक्रम आदि गुणों द्वारा) उपस्नुता=द्राविता (द्रवित की गई) मेदिनी=पृथ्वी-स्वयम्=आत्मनैव (अपने आप) वसूनि=धनानि (धन को) प्रदुग्धे=दुह्यते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याकरणम्—उदारकीर्तेः=उदारा कीर्तिः यस्य असौ उदारकीर्तिः तस्य उदारकीर्तेः। उद्+रा+क स्त्रियां टाप्=उदारा। कृ+क्तिन्=कीर्तिः। उदयम्=उद्+अय्+अच्=उदयम्। दयावतः=दया अस्य अस्तीति दयावान् तस्य दयावतः। दया+मतुप् षष्ठी=दयावतः। यहाँ मतुप् के 'म' के स्थान पर 'व' आदेश हो गया।

अभिरक्षया—अभितो रक्षा अभिरक्षा तथा अभिरक्षया। अभि+रक्ष्+अ। प्रशान्तबाधम्—प्रकर्षेण शान्ता प्रशान्ता, प्रशान्ता बाधा यस्मिन् सः प्रशान्तबाधः तम् प्रशान्तबाधम्। प्र+शम्+णिच+क्त। दिश्+शत्+षष्ठी=दिशतः।

वसूपमानस्य—वसुः उपमानं यस्य स वसूपमानः तस्य वसूपमानस्य। "रत्नं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु" इति अमरकोशः "वसु तोये धने मणौ" इति मेदिनी। वसु शब्द का प्रयोग कुबेर के लिये भी किया जाता है।

उपस्नुता उप+स्नु+क्त स्त्रियां टाप्=उपस्नुता।

मेदिनी—मेदः अस्ति अस्यामिति मेदिनी। मेदं+इनि मत्वर्थे स्त्रियां मेदिनी।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—समासोक्ति। विशेषणमात्रसाम्याद् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः। यहाँ पर अप्रस्तुत गो के व्यवहार का केवल विशेषणों की समानता के कारण आरोप हो रहा है।

विशेष—जैसे कोई नवप्रसूता गो नये घास के कवलों के प्रदान करने से प्रसन्न होकर घास देने वाले व्यक्ति को स्वयं दुग्ध देती है, उसी प्रकार नम्रता से प्रजापालन करते हुए राजा दुर्योधन को प्रजा स्वय कर रूप असंख्य धन प्रदान करती है। कहीं-कहीं पर वह दुर्योधन प्रजा के सुख के लिये निर्जल प्रदेश में नहर, कूप आदि के द्वारा तथा रोगग्रस्त प्रदेश में दवाखाना, औषधालय आदि के द्वारा, कहीं पर दुर्भिक्ष पड़ने पर वह अनाथालय तथा अन्नादि व्यवस्था द्वारा प्रजा की रक्षा करता है। पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण थी। चारों ओर से सुरक्षा का प्रबन्ध होने के कारण चोरों आदि का भय न था। इस कारण सम्पत्तिक्षय की समस्या किसी प्रकार की नहीं थी।

पृथ्वी को मेदिनी कहा जाता है। क्योंकि जब विष्णु ने मधु और कैटभ नामक दो राक्षसों का वध किया तो सारी भूमि उनके मेद (मांस) से पूर्ण हो गई तभी से इसका नाम मेदिनी पड़ गया "मधुकैटभयोस्त्वासीन्मेदमांसपरिप्लुता। तेनेयं मेदिन नाम प्रोच्यते ब्रह्मवादिभिः॥"

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः। 83
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥१९॥

अन्वय—महौजसः, मानधनाः धनार्चिताः, संयति, लब्धकीर्तयः, धनुर्भृतः, न संहताः, न भिन्नवृत्तयः, (अपितु) तस्य, असुभिः प्रियाणि, समीहितुम् वाञ्छन्ति।

वाच्यान्तरम्—महौजोभिः मानधनर्धनार्चितैः धनुर्भृद्भिः संयतिलब्धकीर्तिभिः संहतैः नभिन्नवृत्तिभिः भूयन्ते। किन्तु असुभिरपि प्रियाणि समीहितुं वाञ्छयन्ते॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महौजस इति । महौजसो महाबलाः अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः। मानः कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते मानधनाः। अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्यु-रिति भावः। संयति संग्रामे लब्धकीर्तयः बहुयशस इत्यर्थः। अन्यथा कदाचिन्मुह्येयुरिति भावः। संहता मिथः सङ्गताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति। न संहताः नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। भिन्नवृत्तयो। मिथो विरोधात्स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति नभिन्न-वृत्तयः। पूर्ववत्समासः अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः। धनुर्भृतो धानुष्काः आयुधीयमात्रोपलक्षणमेतत्। प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम्। तस्य दुर्योधनस्यासुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति आनृण्यार्थं प्राणान्दतु-मिच्छन्ति। अन्यथा दोपस्मरणादति भावः। अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणादानकर्त-व्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्काव्यलिंगमलङ्कारः। लक्षणं तूक्तम्। यथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद्विभक्ततया स्फुरणा-त्संसृष्टिः॥

अर्थ—अत्यन्त तेजस्वी, अभिमान रूपी धन वाले, लक्ष्मी द्वारा सम्मानित अथवा राजा द्वारा अनेक बार पुरस्कृत, संग्राम में यश प्राप्त करने वाले तथा अपने स्वार्थ के लिये संगठित न होने वाले, सबके सब आपस के वैर भाव को भुलाकर एक ही लक्ष्य पर निर्भर रहने वाले धनुर्धर लोग अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर उस दुर्योधन का कल्याण चाहते हैं।

व्याख्या—महौजसः—अतितेजस्विनः (अत्यन्त पराक्रमशाली) मानधनाः= मनस्विनः (मान रूपी धन वाले) धनार्चिताः=धनसत्कृताः (राजा के द्वारा बहुत धन से पुरस्कृत) संयति=युद्धे (युद्धस्थल में) लब्धकीर्तयः=प्राप्तयशसः (यश प्राप्त करने वाले) धनुर्भृतः=धनुर्धराः (धनुष को धारण करने वाले) न संहताः=न परस्परसंहताः (आपस में स्वार्थ बुद्धि से न मिले हुए) नभिन्नवृत्तयः=अपृथग्व्यापाराः (भिन्न व्यवहार न रहने वाले) तस्य=दुर्योधनस्य (उस दुर्योधन का) असुभिः=प्राणैः (प्राणों के द्वारा) प्रियाणि=हितानि (हितों को) समीहितुम्=विधातुम् (करने के लिए) वाञ्छन्ति= इच्छन्ति (चाहते हैं)॥

व्याकरणम्—महौजसः—महद् ओजो येषां ते महौजसः। ओज शब्द बल तथा वीर्य का वाचक है। इस प्रकार महतो सकलातिशायनी ओजसी=बलवीर्ये येषां ते महौजसः। "ओजो दीप्तौ बले स्रोत इन्द्रिये निम्नगारये" इत्यमरकोशः। ओजो दीप्ताववष्टम्भे प्रकाशबलयोरपि" इति मेदिनीकोशः।

मानधनाः—मान एव धनं येषां ते मानधनाः। मन+घञ्=मानः।

धनार्चिताः—धनैः अर्चिताः धनार्चिताः। अर्च्+णिच्+क्त=अर्चिताः।

लब्धकीर्तयः—लब्धा कीर्तिः यैस्ते लब्धकीर्तयः। लभ्+क्त+स्त्रियां=लब्धा।

संहताः—सम्+हन्+क्त।

धनुर्भृतः—धनूंषि बिभ्रतीति धनुर्भृतः धनुष्+भृ+क्विप्।

भिन्नवृत्तयः—भिन्ना वृत्तिर्येषां ते भिन्नवृत्तयः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असुभिः—असु, प्राण, दारा, अक्षत, लाजा आदि सदा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। "पुंसि भुम्न्यसवः प्राणश्चैवं जीवोऽसुधारणम्" इत्यमरकोशः।

समीहितुम्—सम्+ईह्+तुमुन्।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—काव्यलिंग तथा परिकर की तिलतण्डुलवत् संसृष्टि। महौजसः मानधनाः धनार्चिताः संयति लब्धकीर्तयः आदि पद अपने विशेषण बल से प्राणदान के लिए प्रयुक्त है अतः "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंग निगद्यते" इस सा० द० लक्षण के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सभी विशेषण अभिप्रायः युक्त है। अतः काव्यप्रकाश के "विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः" लक्षण के अनुसार परिकर है। दोनों अलङ्कार तिल और चावल के मिश्रण के समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं अतः दोनों की संसृष्टि है।

विशेष—दुर्योधन के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने वाले अत्यन्त तेजस्वी संग्राम में यश को प्राप्त करने वाले व्यक्ति सदैव तत्पर रहते हैं और वह अपनी उदारता से धन आदि के द्वारा उन्हें पुरस्कृत करता रहता है। यह सब अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर उसकी सेवा नहीं करते अपितु उन सबका एक यही लक्ष्य है कि वे अपने स्वामी को सुदृढ़ बनायें ॥१९॥

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियाः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ।।२०।।

अन्वय—अशेषितक्रियः, सः, सच्चरितैः, चरैः, महीभृताम् क्रियाः, निःशेषम्, वेद, हितानुबन्धिभिः, महोदयैः धातुः ईहितम्, इव, तस्य, (ईहितम्,) फलैः, प्रतीयते ॥

वाच्यान्तरम्—अशेषितक्रियेण तेन दुर्योधनेन सच्चरितैश्चरैरन्येषां महीभृतां क्रियाः ज्ञायन्ते (विद्यन्ते), हितानुबन्धिनो महोदयाः धातुरीहितमिव तस्य चेष्टितम्, फलैः प्रतियन्ति।

महीभृतामिति। अशेषितक्रियः। समापितकृत्यः। आफलोदयकर्मेत्यर्थः। दुर्योधनः। सच्चरितैः शुद्धचरितैः। अवञ्चकैरित्यर्थः। चरन्तीति चरास्तैश्चरैः प्रणिधिभिः। पचाद्यच्। महीभृतां क्रियाः प्रारम्भान्निःशेषं वेद वेत्ति। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः। स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति। धातुरिव तन्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः। हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धतीति हितानुबन्धिभिः स्वन्तैरित्यर्थः। फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते। फलानुमेयस्यास्य प्रारम्भा इत्यर्थः॥

अर्थ—प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने वाला वह दुर्योधन सच्चरित्र गुप्तचरों द्वारा राजाओं के कार्यों को पूर्ण रूप से समझ लेता है। परन्तु उस दुर्योधन की चेष्टा को ब्रह्मा की चेष्टा के समान फलों को देखकर ही लोग समझ पाते हैं॥

व्याख्या—अशेषितक्रियः=समापितकृत्यः (आवश्यक समस्त राजकार्यों को समाप्त करने वाला।) सः=दुर्योधनः (वह दुर्योधन) सच्चरितैः=शुद्धचरितैः (अच्छे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरित्र वाले) चरैः=गूढपुरुषैः (गुप्तचरों के द्वारा) महीभृताम्=राज्ञां (पृथ्वी का पालन करने वाले राजाओं की) क्रियाः=उद्योगान् (उपायों को, व्यवहार को) निःशेषम्=सम्पूर्णम् (सम्पूर्ण) वेद=जानाति (जानता है) हितानुवन्धिभिः=हितकारिभिः (कल्याण कार्य करने में तत्पर) महोदयैः=महानुभावैः आप्ततमैः (अत्यन्त विश्वसनीय राजाओं के द्वारा) धातुः=ईश्वरस्य (ईश्वर की या ब्रह्मा की) तस्य=दुर्योधनस्य (उस दुर्योधन की) ईहितम्=ईप्सितम् (चेष्टाओं को) फलैः=परिणामैः (परिणामों के द्वारा ही) प्रतीयते=ज्ञायते (जानी जाती है) ॥

व्याकरणम्—अशेषितक्रियः=न शेषिता अशेषिता क्रिया येन सः अशेषितक्रियः। शिष्+णिच्+क्त॥

सच्चरितैः—शोभनं चरितं येषां ते सच्चरिताः तैः सच्चरितैः। चर्+क्त। अस्+शतृ=सत्।

चरैः—चरन्तीति चराः तैः चरैः। चर्+अच्।

महीभृताम्—महीं पृथ्वीं बिभ्रतीति महीभृतस्तेषां महीभृताम्। मही+भृ+क्विप्।

निःशेषम्—निर्गतः शेषो यस्मात् तत् निःशेषम्। शिष्+घञ्।

हितानुवन्धिभिः—हितमनुवध्नन्तीति हितानुबन्धीनि तैः हितानुवन्धिभिः। हित+अनु+वन्ध्+णिनि।

महोदयैः—महानुदयो येषां ते महोदयास्तैः महोदयैः। उद्+अय्+अच्।

धातुः—दधातीति धाता तस्य धातुः। धा+तृच्।

ईहितम्—ईह्+क्त।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—उपमा "साधर्म्यमुपमाभेदे" का० प्र०।

विशेष—राजा दुर्योधन राजा, प्रजा, भृत्य सभी के कार्यों को अपने विश्वासी गुप्तचरों द्वारा पहले ही ठीक प्रकार से जान लेता है। इस प्रकार वह बड़ी सतर्कता के साथ अपना शासन-कार्य चला रहा है। वह सबके चेष्टित विचारों तक को भी भली-भाँति जान लेता है परन्तु वह क्या कार्य करता है इसे कोई नहीं जान पाता। उसके कार्यों का पता तो सफलता मिलने पर ही लगता है। परिणाम को देखकर उसके कार्यों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार विधाता या ईश्वर की बात को कोई नहीं समझ पाता उसी प्रकार उसके भी कार्य अत्यन्त गुप्त रहते हैं ॥२०॥

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

अन्वय—तेन, क्वचित्, सज्य, धनुः, न उद्यतम्, व कोपविजिह्मम्, आननम्, न, कृतम् गुणानुरागेण, नराधिपैः, अस्य, शासनम्, माल्यमिव, शिभिरोः उह्यते॥

वाच्यान्तरम्—स क्वचित् सज्यं धनुः नोद्यतवान्, वा कोपविजिह्मम् आननं न कृतवान्। नराधिपाः गुणानुरोगेण अस्य शासनं माल्यमिव शिरोभिर्वहन्तीति॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नेति । तेन राज्ञा क्वचित् कुत्रापि । सह ज्यया मौर्व्या सज्यम् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः, इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति वहुव्रीहिः । धनुर्नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम् । आननं च कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम् । यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः 'कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह गुणेति । गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा । माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेण । यद्वा, सौरभ्यगुणलोभेन, । नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा । मालैव माल्यं तदिव । 'चातुवर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी । शिरोभिरुह्यते धार्यते । 'वचिस्वपियजादीनां कीति' इति यकि सम्प्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ॥

अर्थ—राजा दुर्योधन ने कभी भी प्रत्यंचा चढ़ाकर धनुष को नहीं उठाया और न कभी उसने क्रोधवश अपना मुख ही टेढ़ा किया है । आश्रित नृपतिगण उसके गुणों के वशीभूत होकर उसकी आज्ञा सिर पर उसी प्रकार धारण कर लेते हैं जैसे कोई फूलों की माला को शिर पर धारण कर लेता है ॥

व्याख्या—तेन=राज्ञा दुर्योधनेन (उस राजा दुर्योधन के द्वारा) क्वचित्=कुत्रापि (कहीं भी) सज्यम्=ज्यासहितम् (धनुष की डोरी के सहित) धनुः=चापम् (धनुष को) न उद्यतम्=नोत्थापितम् (नहीं उठाया गया) कोपविजिह्मम्=कोपकुटिलम् (क्रोध से टेढ़ा) आननम्=मुखम् (अपने मुख को) न कृतम्=न विहितम् (नहीं किया) गुणानुरागेण=गुणादिस्नेहेन (दया आदि गुणों के स्नेह से) नराधिपैः=भूपालैः (राजाओं के द्वारा) अस्य=दुर्योधनस्य (राजा दुर्योधन का) शासनम्=आज्ञा (आज्ञा) माल्यम्=पुष्पमाला इव (फूलों की माला के समान) शिरोभिः—शीर्षैः (शिर से) उह्यते=धार्यते (धारण करते है) ॥

व्याकरणम्—सज्यम्=ज्या सहितम् सज्यम् । यहाँ पर "तेन सहेति तुल्ययोगे" सूत्र से समास होकर "वोपसर्जनस्य" से सह के स्थान पर 'स' आदेश हो गया । "मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इति कोशः ।

नोद्यतम्=न+उद्+यम्+क्त ।

आननम्—"वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्" । इति कोशः । कोपविजिह्मम्=कोपेन विजिह्मम् कोपविजिह्मम् । कुप्+घञ्+कोपः "कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियाम्" इति कोशः । गुणानुरागेण=गुणेषु अनुरागः गुणानुरागः तेन गुणानुरागेण । अनु+रञ्ज्+घञ्=अनुरागः ।

नराधिपैः—नाराणाम् अधिपाः तैः नराधिपा; तैः-नराधिपाः । अधिपाति इति अधिपः । अधि+पा+क ।

शासनम्—माला एवं माल्यम् । "माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि केशमध्ये तु गर्भकः" इति कोशः ।

शिरोभिः—उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" । कोशः ।

छन्द—वंशस्थ ।

अलंकार—उपमा "साधर्म्यमुपमाभेदे" का० प्र० ।

विशेष—दुर्योधन के गुणों से सभी वर्ग के लोग प्रसन्न थे । किसी को किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार का कोई कष्ट नहीं था। सभी लोग उसकी आज्ञा को उसी प्रकार अपने शिर पर रखते थे अर्थात् स्वीकार करते थे जैसे फूलों की माला को लोग हर्ष के साथ धारण कर लेते हैं। आज तक उसने किसी भी शत्रु पर चढ़ाई नहीं की और न क्रोध ही किया है। सभी लोग उसके गुणों पर अनुरक्त थे ॥२१॥

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

अन्वय—इद्धशासनः, सः, यौवराज्ये, नवयौवनोद्धतम्, दुःशासनम् निधाय, मखेषु, अखिन्नः, पुरोधसाः अनुमतः (सन्) हव्येन, हिरण्यरेतसम्, धिनोति ॥

वाच्यान्तरम्—तेन इद्धशासने यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं दुःशासनं निधाय मखेषु अखिन्नेन पुरोधसाऽनुमतेन हव्येन हिरण्यरेतः धिन्व्यते ॥

स इति। इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धतं प्रगल्भम्। धुरन्धरमित्यर्थः। दुःखेन शास्यत इति दुःशासनस्तम् 'भाषायां शासियुधि' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः। यौवराज्ये युवराजकर्मणि। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। निधाय नियुज्येत्यर्थः। पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञातः। तस्मिन्याजके सतोस्यर्थः। तदुल्लघेन दोषस्मरणादिति भावः। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः न तु 'मतिबुद्धि' इत्यादिना वर्तमानार्थे। अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी स्यात्। अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा। हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमनलं धिनोति प्रीणयति। धिन्वेः प्रीणनार्थाद् 'धिन्विकृण्व्योर च' इत्युप्रत्ययः। अकारश्चान्तादेशः ॥

अर्थ—उग्र शासन करने वाला वह राजा दुर्योधन छोटे भाई दुःशासन को युवराज बनाकर स्वयम् यज्ञ में निश्चिन्त रूप से पुरोहित की आज्ञा के अनुसार अश्रान्त हव्यों के द्वारा अग्नि को सन्तुष्ट करता है ॥

व्याख्या—इद्धशासनः=उग्रशासनः (उग्र या कठोर शासन वाला) सः= दुर्योधनः (वह दुर्योधन) यौवराज्ये=युवराजकर्मणि (युवराज के पद पर) नवयौवनोद्धतम्=प्रगल्भम् (नई अवस्था के कारण अत्यन्त गर्वीला) दुःशासनम्=स्वानुजम् (अपने छोटे भाई दुःशासन को) निधाय=नियुज्य (नियुक्त करके) मखेषु=यज्ञेषु (यज्ञों में) अखिन्नः=अश्रान्तः (बिना थके हुए, आलस्यरहित, अविराम) पुरोधसा= पुरोहितेन (पुरोहित की आज्ञा से) अनुमतः=आज्ञातः (आज्ञा से) हव्येन=हविषा (यज्ञान्न) (यज्ञान्न के द्वारा) हिरण्यरेतसम्=अग्निम् (अग्नि को) धिनोति=जुहोति (हवन करता है)।

व्याकरणम्—इद्धशासनः—शिष्यते इति शासनम्, इद्धं शासनं यस्य सः इद्धशासनः। शास्+ल्युट्=शासनम्, इन्ध्+क्त=इद्धम् (बहुव्रीहि समास) इद्धः में ञिइन्धी से क्त प्रत्यय होने पर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से 'न' का लोप हो जाता है। शासनं राजदत्तोर्व्यां लेखाऽऽज्ञाशास्त्रशान्तिषु, इति मेदिनीकोशः ॥

यौवराज्ये—युवा चासौ राजा युवराजः, युवराज्यस्य भावः कर्म वा यौवराज्यम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्मिन् यौवराज्ये (कर्मधारय समास) यहाँ पर समास होने के अनन्तर 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र से राजन् अहन् तथा सखि शब्द के बाद टच् प्रत्यय लगता है, फलस्वरूप राजन् के 'अन्' का लोप होकर युवराज यह शब्द समास में हो जाता है। भाव में "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" से ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है क्योंकि 'युवराज' शब्द ब्राह्मणादि गण (आकृतिगण) से ग्रहण किये जाते हैं।

नवयौवनोद्धतम्—यूनो भावः यौवनम्. नवं च तत् यौवनं, नवयौवनम्, नवयौवनेन उद्धतः नवयौवनोद्धतः तम्। युवन्+अण्=यौवनम्। उद्+हन्+क्त=उद्धतम्। 'तारुण्यं यौवनं समे' इत्यमरः। यहाँ यौवनम् में 'हायनान्तयुगादिभ्योऽण् ५।१।१३०। से अण्, प्रत्यय हो जाता है।

दुःशासनम्—दुःखेन शास्यते इति दुःशासनः तम् दुःशासनम्। दुर्+शास्—युच्। यहाँ पर उपसर्ग होने के कारण 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६ से 'खल्' प्रत्यय प्राप्त था उसे बाधकर 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्यः' ३।३।१२८ इस वार्तिक से युच् प्रत्यय हो जाता है। तब दुर+शास्+युच्+अन=दुःशासन यह रूप होता है।

मखेषु—मखन्ति देवा अत्र अनेन वा मखः तेषु मखेषु। मख्+घञ्=मखः यहाँ 'हलश्च' ३।३।१२१ से घञ् प्रत्यय होता है। और संज्ञापूर्वक होने से यहाँ पर वृद्धि नहीं होती। अथवा कहीं-कहीं पर अपवादत्वात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' ३।३।११८ से घञ् के विषय में भी 'घ' प्रत्यय हो जाता है फलस्वरूप वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठ पाता। 'यज्ञः' सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः।

अखिन्न—खिद्यते इति खिन्नः न खिन्नः। अखिन्नः। खिद्+क्त। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इस सूत्र से त, और द् को न हो गया। पुरोधसा—पुरः धत्ते धीयते वा इति पुरोधाः तेन पुरोधसा। पुरस्+धा+असि। यहाँ पर उणादि सूत्र 'पुरसि च' से 'असि' ईकार की इत्संज्ञा तथा लोप पुरोधस्। तृतीया विभक्ति के एकवचन में पुरोधसा रूप बनता है "पुरोधास्तु पुरोहितः" इत्यमरः॥

अनुमतः—अनु+मन् धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय अनु+मन्+क्त अनुमतः। यहाँ पर निष्ठा, इस सूत्र से भूतकालिक अर्थ में क्त प्रत्यय का प्रयोग हुआ। 'मतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थेभ्यश्च' से वर्तमान अर्थ में क्त प्रत्यय नहीं हुआ है। यदि वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होता तो 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से पुरोधसा में षष्ठी विभक्ति हो जाती।

हव्येन—हूयते इति हव्यम् तेन हव्येन हु+यत्=हव्यम्। 'अचो यत्' से यत् पत्यय का प्रयोग किया गया है।

हिरण्यरेतसम्—हिरण्यं रेतो यस्य स हिरण्यरेताः तम् हिरण्यरेतसम्। "हिरण्यरेता हुतभुग्दहनो हव्यवाहनः" इत्यमरः।

छन्द—वंशस्थ।

विशेष—उपर्युक्त रीति से उस दुर्योधन ने सभी निकटवर्ती तथा अन्य राजाओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को अपने वश में करके अर्थ और काम की सिद्धि प्राप्त कर ली है। अब धर्मोपार्जन में व्यस्त रहता है। उसकी अब यही दैनिक चर्या हो गई है कि राज्य-कार्य से विरत होकर यज्ञादि कार्यों में निरत रहना। वह समझता है कि इस कृत्य से हमारे कपट पर परदा पड़ जायगा तथा अन्य सभी लोग मुझ पर पूर्ण विश्वास करने लगेंगे। इसीलिए उसने दुःशासन को सारा राज्यभार सौंप दिया है। दुःशासन पर राज्य भार है यही राजनीति का गुप्त रहस्य है। इसका शासन अति उग्र है और दुर्योधन धार्मिक कार्यों में रत है। इस कारण प्रजावर्ग में असन्तोष की भावना जाग्रत हो सकती है। प्रजा के विद्रोह के समय पर आपको सफलता अवश्य मिल जायेगी। अतः आप इस अवसर से अवश्य लाभ उठाने का प्रयास करिये। यहाँ पर इसी आशय की ओर तात्पर्य है ॥

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥२३॥

अन्वय—सः, प्रलीनभूपालं, स्थिरायति, आवारिधि भुवः, मण्डलम् प्रशासत्, अपि, त्वदेष्यतीः भियः, चिन्तयति, एव। अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता भवति ॥

वाच्यान्तरम्—तेन दुर्योधनेन प्रलीनभूपालं स्थिरायति, आवारिधि भुवो मण्डलं प्रशासता, त्वदेष्यस्यो भियश्चिन्त्यन्ते एव। अहो बलवद्विरोधितया दुरन्तया भूयते।

प्रलीनेति। स दुर्योधनः। प्रलीनभूपालम्। निःसपत्नमित्यर्थः स्थिरायति। चिरस्थायीत्यर्थः। भुवो मण्डलमावारिधिभ्य आवारिधि। आङ् मर्यादाऽभिविध्योः।' इत्यव्ययीभावः। प्रशासदाज्ञापयन्नपि। 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा। 'नाभ्यय-स्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः। त्वत्त एष्यतीरागमिष्यतीः। धातूनामनेकार्थत्वादु-क्तार्थसिद्धिः। अथवाऽऽङ्पूर्वः पाठः। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। 'लृटः सद्वा' इति शतृ-प्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। भियो भयहेतून्। विपद इत्यर्थः। चिन्तयत्यालोचयत्येव। स एवाह अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना। सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम्। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

अर्थ—वह दुर्योधन शत्रु राजाओं के नष्ट हो जाने पर भी, आगे भी किसी प्रकार की शङ्का न होने पर भी तथा समुद्रपर्यन्त भूमण्डल का शासन करते हुए भी आप से आने वाले भय को सोचता ही है। क्योंकि अपने से अधिक बल वाले के साथ विरोध करना दुःखान्त होता है।

व्याख्या—सः=दुर्योधनः (वह राजा दुर्योधन) प्रलीनभूपालम्=शत्रुरहितम् (शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर भी) स्थिरायति=चिरस्थायि (भविष्य में भी स्थिर रहने वाले) आवारिधि=आसमुद्रम् (समुद्रपर्यन्त) भुवः=पृथिव्याः (पृथिवी का) मण्डलम्=चक्रम्, वलयम् (मण्डल को) प्रशासत्=आज्ञापयन्नपि (शासन करते हुए भी) त्वत्=भवतः (आपसे) एष्यतीः=शीघ्रमागामिनिः (शीघ्र आने वाली) भियः= विपदः (आपत्ति) चिन्तयति=विचारयति (सोचता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहो=अश्चर्यम् दुःखम् (दुःख है कि) बलवद्विरोधिता=बलवता सह विरोधः (बलवान् के साथ शत्रुता) दुरन्ता=दुःखप्रदा (दुःख देने वाली)।

व्याकरणम्—प्रलीनभूपालम्—भुवं पालयतीति भूपालः, प्रलीनाः भूपालाः यस्मिन् तत् प्रलीनभूपालम्। प्र+ली+क्त=प्रलीन, भू+पा+णिच् यहाँ पर 'पातेर्णौ लुग्वक्तव्यः' इस वार्तिक से युगागम का बाध होकर लुगागम होकर भू+पा+ल अण् =भूपाल होता है। पाल् रक्षणे धातु से भी भूपाल शब्द की सिद्धि होती है।

स्थिरायति—स्थिरा आयतिः उत्तरकालो यस्य तत् स्थिरायतिः। यह 'भूमण्डलम्' का विशेषण है जिसका अर्थ होता है आगे आने वाले समय में भी स्थिर रहने वाले भूमण्डल का शासन करता हुआ। 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः।

आवारिधि—वारि धीयते अस्मिन् इति वारिधि, वारिधिभ्यः आ इति आवारिधि। वारि+धा का यहाँ पर 'आतो लोप इति च' सूत्र से 'धा' के अ का लोप होकर वारिधि बनता है। 'उदधिर्वारिधिः सिन्धुः सागरश्च सरित्पतिः" इति कोषः॥

त्वदेष्यतीः—त्वत्तः एष्यतीः त्वदेष्यतीः। (आ+इ+लृट्+शतृ+ङीप्) यहाँ पर भविष्यत् अर्थ में लृट् आने पर 'लृटः सद्वा' सूत्र से शतृ प्रत्यम् हो जाता है, साथ ही 'स्यतासी लृलुटोः' सूत्र से स्य हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'उगितश्च' से ङीप् होकर एष्यतीः सिद्ध होता है। इस प्रकार 'एष्यतीः' का अर्थ 'जाती हुई' होता है परन्तु यहाँ पर आती हुई यह अर्थ प्राप्त होता है। इस विरोध को दूर करने के लिये मल्लिनाथ ने धातुओं को अनेकानेक मानकर दूर किया। दूसरे ने 'वदेष्यतीः' के स्थान पर 'त्वदैष्यती' पाठ माना है। यन पाठ मानने पर आ+एष्यतीः 'एत्येधत्यूठ्सु' से वृद्धि 'त्वदैष्यतीः' जिसका अर्थ 'आती हुई' होता है और 'आच्छीनद्योर्नुम्' सूत्र से नुम् का आगम हो जाता है यह सूत्र विकल्प से नुमागम करता है॥

भियः—विभेति अस्मात् इति भीः ताः भियः। "भीतिर्भीः साध्वसं भयम्"।

बलवद्विरोधिता बलमस्ति अस्य इति बलवान्, विरोद्धुं शीलमस्य इति विरोधी, बलवद्भिः विरोधी इति बलवद्विरोधी तस्य भावः बलवद्विरोधिता।

दुरन्ता—दुष्टः अन्तो यस्याः या दुरन्ता

अहो—यह अव्ययवाचक शब्द है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास। यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है। अतः उक्त अलङ्कार है।

विशेष—हे महाराज युधिष्ठिर! दुर्योधन का शासन इस समय सुदृढ़ तथा सुचारु रूप से चल रहा है क्योंकि उसने समस्त विरोधी राजाओं को येन केन प्रकारेण अपने अधीन कर लिया है। वह समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भूमण्डल का एक मात्र शासक है फिर भी आपसे आने वाले पराभव से सदैव शंकित रहता है, क्योंकि बलवान् व्यक्ति के साथ विरोध करने से सदैव अनर्थ का भय बना रहता है॥२३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

अन्वय—कथाप्रसंगेन, जनैः, उदाहृतात् तव, अभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसुनुविक्रमः, नताननः, सः (दुर्योधनः) सुदुःसहात्, मन्त्रपदात् उरगः, इव व्यथते ॥

वाच्यान्तरम्—कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात्, अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमेण नताननेन तेन सुदुःसहान्मन्त्रपदाद् उरगेण इव तवाभिधानाद् व्यथ्यते ॥

कथेति । कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनैः तत्रस्थैरित्यर्थः । अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन । 'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः । एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम् । यद्वा, कथाप्रसङ्ग इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम् । उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः 'हेतौ' इति पञ्चमी । 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः । अन्यत्र तवाभिधानात् । 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात् । तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात् । अनुस्मृताखण्डलसुनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः सन् दुःसहादतिदुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात्स्मारकाद्धेतोः । आखण्डलसूनुरिन्द्रानुजः उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत् । 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः । तस्य विः पक्षी । गरुड इत्यर्थः । तस्य क्रमः पादविक्षेपः सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः स्मृतगरुडमहिमा । उरग इव, नताननः सन् । व्यथते दुःखायते । 'पीड़ा बाधा व्यथा दुखम्' इत्यमरः । अत्युत्कटभये दोपादिविकारा दुर्वारा इति भावः । 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ।

अर्थ—वार्तालाप के प्रसंग के अवसर पर लोगों के मुख से निकले हुए आप लोगों के नाम को सुनकर दुर्योधन को अर्जुन के पराक्रम की स्मृति आ जाती है । फलस्वरूप जैसे विषवैद्य सँपेरों के मुख से निकले हुए पदों को सुनकर साँप फण झुका लेता है उसी प्रकार वह भी नतमस्तक हो जाता है और भीतर ही भीतर दुःखी हो जाता है ।

व्याख्या—दुर्योधन के पक्ष में—कथाप्रसंगेन=वार्तानुक्रमेण (बातचीत के प्रसंग के अवसर पर) जनैः=लोकैः (लोगों के द्वारा) उदाहृतात्=उच्चारितात् (उच्चारित होने से) तव=भवतः (आप युधिष्ठिर का) अभिधानात्=नाम्नः (नाम से) अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः=स्मृतार्जुनपराक्रमः (अर्जुन के महापराक्रम का स्मरण करके) नताननः=नम्रमुखः (नीचे की ओर मुख किये) सः=दुर्योधनः (वह दुर्योधन) सुदुःसहात्=अतिदुःसहात् (अति कठिनाई से भी न सहने योग्य) मन्त्रपदात्=मन्त्रशब्दात् (मन्त्र सुनकर) उरग इव=सर्प इव (साँप के समान) व्यथते=पीडामनुभवति (पीड़ा का अनुभव करता है ।)

सर्प के पक्ष में—कथाप्रसंगेन जनैः=विषवैद्यप्रमुखैर्जनैः (सर्प-विद्या को जानने वाले लोगों के द्वारा) उदाहृतात्=उच्चारितात् (उच्चारण किया गया) तवाभिधानात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

=ताक्ष्यंवासुकिनामकथनात् (ताक्ष्यंवासुकी आदि के नाम को बताने वाले) मन्त्रपदात् =मन्त्रावयवात् (मन्त्रों के अवयवभूत पदों से) अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः=स्मृत-गरुडवेगः (विष्णु के वाहन गरुड़ का स्मरण करके) नताननः=अधोमुखः (नीचे मुख किये हुये) व्यथते=क्लिश्यति (कष्ट का अनुभव करता है)।

व्याकरणम्—कथाप्रसंगेन=कथानां प्रसंगः कथाप्रसंगः तेन कथाप्रसंगेन। यह व्याख्या अर्जुन के पक्ष में। उरग के पक्ष में इनाश्च ते जनाः इनजनाः कथाप्रसंगेषु इनजनाः इति कथाप्रसंगेनजनाः तैः कथाप्रसंगेनजनः। अथवा कथाप्रसंगानाम् इनाः (स्वामिनः) कथाप्रसंगेनाः ते च ते जनाश्च कथाप्रसंगेनजनाः तैः कथाप्रसंगेनजनैः। यहाँ 'कथाप्रसंगेनजनैः' को एक पद माना जाता है तथा एकवचनस्य अतन्त्रत्वात्' कथा-प्रसंगेन यह जन का भी विशेषण होता है। यहाँ पर श्लेष के द्वारा 'कथाप्रसंगेन' के दो अर्थ होते हैं एक अर्थ 'वार्तालाप के प्रसंग में' होता है और दूसरा अर्थ 'श्रेष्ठ विष-वैद्यों द्वारा' होता है। 'कथाप्रसंगो वर्ताय विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' तथा 'इनः प्रभौ नृपः सूर्ये' इस विश्वकोष के अनुसार कथाप्रसंग का अर्थ विषवैद्य तथा इनका अर्थ श्रेष्ठ या राजा होता है॥

उदाहृतात्—उद्=आ+हृ+क्त (पंचमी) तस्मात् उदाहृतात्।

तवाभिधानात्—तव अभिधानम् तवाभिधानं तस्मात् तवाभिधानात्। यहाँ पर 'हेतौ' सूत्र से पंचमी विभक्ति (सर्पपक्ष में) नाग जाति के ताक्ष्य और वासुकी दो महान् सर्प माने जाते हैं। इसका अर्थ करने पर समास प्रकार होगा 'नामैकदेशग्रहणे नामैमात्रग्रहणम्' इस नियम के अनुसार दोनों के आदि अक्षर 'त' और 'व' को समास किया जाता है। तश्च वश्च तवौ, तवयोः अभिधानम् यस्मिन् तस्मात् तवाभिधानात्। अभि+धा+ल्युट्। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः।

अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः—आखण्डयति इति आखण्डलः "वृषादिभ्यः कलच्" इस उणादि सूत्र से कलच् प्रत्यय होने पर आखण्डलः सिद्ध होता है। सूयते इति सूनुः 'सुवः किम्' इस उणादि सूत्र से 'नुः' प्रत्यय होकर सूनुः सिद्ध होता है। आखण्डलस्य सूनुः, आखण्डलसूनुः आखण्डलसूनोः विक्रमः, आखण्डलसूनुविक्रमः, अनुस्मृतः आखण्डल-सूनुविक्रमो येन सः अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः (दुर्योधन पक्ष में) 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इस विश्वकोष के आधार पर सूनु का अर्थ अनुज भी होता है। यहाँ पर यह तर्क करना स्वाभाविक है कि युधिष्ठिर के रहते हुए अर्जुन की बड़ाई करना ठीक नहीं परन्तु सज्जन लोग अपने पुत्र, शिष्य या अनुज की श्रेष्ठता पर प्रसन्न होते हैं 'सर्वतो जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' ऐसा नीतिशास्त्र का कथन है। इसके अतिरिक्त इससे यह ध्वनि भी प्रकट होती है कि जब अर्जुन के नाम को सुनकर वह इतना व्यथित होता है तो आपके (युधिष्ठिर के) नाम को सुनकर तो नितान्त हतोत्साह तथा मूच्छित हो जाता होगा। (सर्प पक्ष में) विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई माना जाता है इसलिए उन्हें उपेन्द्र कहा जाता है अतः आखण्डलसूनु का अर्थ 'विष्णु' 'विः' का अर्थ पक्षी होता है। अमरकोष के अनुसार भी 'विविष्किरपतयः' कहा गया है। अतः 'विः'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का अर्थ यहाँ गरुड़ लिया जाता है। 'वा' धातु इण् प्रत्यय उणादि सूत्र 'वातेर्डिच्च' सेटि का लोप विः आखण्डलस्य सूनुः, वाति इति विः, आखण्डलस्य सूनोः विः आखण्डल-सूनुविः क्रमः आखण्डलसूनुवेः आखण्डलसूनुविक्रमः अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमो येन सः अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः। 'आखण्डलः सहस्राक्षः' इत्यमरः। "विक्रमः पादविक्षेपे सामर्थ्येऽपि च कथ्यते" इति।

नताननः—नतम् आननं यस्य स नताननः। नम्+क्त नतः आनन्ति अनेन इति आननम्। आ+अन्+ल्युट्। वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः। 'आस्यं मुखं तु वदनमाननं वक्त्रमित्यपि' इति कोषः।

सुदु सहात्—दुःखेन सह्यते इति दुःसहम् सुष्ठु दुसहम् इति सुदुःसहम् तस्मात् सुदूःसहात् दुर्+सह्+खल्। दुःसहम्। यहाँ पर 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' सूत्र से 'खल्' प्रत्यय होता है। अर्थात् दुःखार्थक और सुखार्थक ईषद् आदि उपपद रहने पर धातु से भाव और कर्म अर्थ में खल् प्रत्यय होता है।

मन्त्रपदात—मन्त्रस्य पदं मन्त्रपदं तस्मात् मन्त्रपदात्। यहाँ पर 'हेतौ' इस सूत्र से पंचमी विभक्ति। अथवा 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे' सूत्र से 'मन्त्रपदं श्रुत्वा' यह अर्थ करने पर पंचमी विभक्ति होगी। मन्त्र्यते इति मन्त्रम्। मन्त्रि गुप्तभाषणे धातु से घञ् प्रत्यय 'भावे' सूत्र से होता है। वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः" इत्यमरः। 'मन्त्रो देव-विशेषे स्याद् देवादीनां च साधने। गुह्यवादेऽपि च पुमान्' इति मेदिनीकोशः॥

उरगः—उरसा गच्छति इति उरगः। उरस्+गम्+ड यहाँ पर उरस् पूर्वक गम्लृ (गम्) धातु से 'उरसो लोपश्च' से 'ड' प्रत्यय तथा उरस् के स का लोप हो जाता है। इसका अर्थ है कि—कर्मसंज्ञक 'उरस्' उपपद रहते हुए गम् धातु से 'ड' प्रत्यय हो तथा उरस् के अन्त का लोप हो जाय। 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' इत्यमरः।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—पूर्णोपमा तथा श्लेष। इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमालंकार है "सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्।" अर्थात् सामान्यधर्म, उपमावाचक, उपमेय और उपमान ये चारों यदि वाच्य हों (किसी शब्द से प्रतिपादित हों) व्यंग्य या आक्षेप्य न हों तो उसे पूर्णोपमा कहते हैं। दो पदार्थों की तुल्यता के कारणीभूत गुण क्रिया आदि को सामान्य धर्म या साधारण धर्म कहते हैं। इव, यथा, तुल्य, सदृश, सम्, वत् आदि उपमावाचक शब्द, वर्णनीय उपमेय तथा समानता के निरूपक आदि को उपमान कहते हैं। यहाँ पर 'सः' उपमेय, उरग-उपमान, इव वाचक शब्द, अर्जुन या विष्णु के पक्षी गरुड़ का स्मरण तथा नतानन होना साधारण धर्म आदि है अतः पूर्णोपमा है। इसके अतिरिक्त श्लेषालङ्कार भी है, क्योंकि श्लेष वहाँ होता है जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हों। "श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रा-नेकार्थता भवेत्" यहाँ पर "कथाप्रसंगेन जनैः" "तवाभिधानात्" तथा 'अनुस्मृताखण्डल-सूनुविक्रमः' में श्लेषालङ्कार है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष—वनेचर दुर्योधन की शङ्कालु प्रवृत्ति का वर्णन करता हुआ कहता है कि दुर्योधन आपके पराक्रमी भ्राता अर्जुन का नाम सुनकर उसी प्रकार व्यथित होता है जिस प्रकार विष्णु का वाहन गरुड़ का नाम सुनकर ताक्ष्य और वासुकी नाग व्यथित होकर नतमस्तक हो जाते हैं। इससे व्यंग्यार्थ द्वारा युधिष्ठिर का वर्णन किया गया है ।।२४।।

तदाशु कर्त्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ।।२५।।

अन्वय—तत्, त्वयि, जिह्मं, कर्तुम् उद्यते, तत्र, विधेयम्, उत्तरम्, आशु, विधीयताम्। परप्रणीतानि वचांसि, चिन्वतां, मादृशां, गिरः प्रवृत्तिसाराः, खलु ।।

वाच्यान्तरम्—तत् त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरं विधेहि परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां मादृशां गीर्भिः प्रवृत्तिसाराभिर्भूयते ।।

तदिति । तत्तस्मात्त्वयि जिह्मं कपटं कर्तुमुद्यते । त्वां जिघांसावित्यर्थः । तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेयं कर्त्तव्यमुत्तरं प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयतां क्रियताम् । ननु कर्त्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीताति परोक्तानि वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशाम्, वार्त्ताहारिणामित्यर्थः गिरः प्रवृत्तिसारा वार्त्तामात्रसाराः खलु, 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । वार्तामात्रवादिनो वयम्, न तु कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः, अतस्त्वयैव निर्धार्यं कार्यमिति भावः, सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ।।

अर्थ—महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार वह दुर्योधन आपके साथ कपटपूर्ण कुत्सित व्यवहार करना चाहता है । अतः आप शीघ्र उसका प्रतीकार करने के लिये उद्यत हो जाइये । क्योंकि दूसरे के कहे हुए वाक्यों को आप तक पहुँचा देना ही हमारा काम है । आगे की आप सोचिये ।

व्याख्या—तत्=तस्मात् (इससे) त्वयि=भवति (आपके प्रति) जिह्मम्=कपटम् (कपट को) कर्तुम्=विधातुम् (करने के लिए) उद्यते=प्रवृत्ते (तत्पर) तत्र=तस्मिन् (उन दुर्योधन में) विधेयम्=कर्तव्यं (अपने कर्तव्य को) उत्तरम्=प्रतिविधानम् (प्रतीकार को) आशु=शीघ्रम् (अतिशीघ्र ही) विधयताम्=क्रियताम् (करना चाहिये) परप्रणीतानि=परैः कथितानि (दूसरों के द्वारा कहे हुए) वचांसि=वाक्यानि (वाक्यों को) चिन्वताम्=गवेषयताम् (संग्रह करते हुए तथा गूढ़ बातों का अन्वेषण करने वाले) मादृशाम्=मद्विधानाम् (हमारे समान दूसरो की बात को आप तक पहुँचाने वाले गुप्तचरों की) गिरः=वाण्यः (वार्ता) प्रवृत्तिसाराः=वृत्तान्तमात्रसाराः= (समाचारों को केवल बतलाने वाली) खलु=निश्चयेन (निश्चय रूप से होती है) ।।

व्याकरणम्—जिह्मम्+जाहित सरलमार्गम् इति जिह्मः तम् जिह्मम् । हा+मन् । यहाँ पर उणादि सूत्र जहाति 'सन्वदालोपश्च' से 'आ' का लोप हो जाता है तथा हा को द्वित्व होने के कारण पूर्व हा के 'आ' को 'सन्यतः' सूत्र से इत्व होकर 'जिह्मः' सिद्ध होता है । "जिह्मास्तु कुटिले मन्दे क्लीबे तगरपादपे" इति मेदिनी । "अरालं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृजिनं जिह्ममूर्मिमत्कुंचितं नतम् । आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि" इत्यमरः । कृ+तुमुन्=कर्तुम् ।

उद्यते—उद्+यम्+क्त=सप्तमी एकवचन उद्यते ।

तत्र—तस्मिन् इति तत्र । सप्तम्यन्त किम्, यत्, तत् आदि से त्रल् प्रत्यय होता है । यह प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्यय है सप्तमी के स्थान पर नहीं होता । तत्+त्रल् सप्तम्यर्थे । यह अव्यय वाचक होते हैं ।

विधेयम्—विधातुं योग्यं विधेयम् । वि+धा+यत् । यहाँ पर 'अचो यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय होकर 'ईद्यति' सूत्र से 'आ' को ई हो जाता है अतः 'ई' को गुण होकर विधेयम् सिद्ध होता है ।

परप्रणीतानि—परैः प्रणीतानि परप्रणीतानि । प्र+नी+क्त प्रणीतानि यहाँ पर 'उपसर्गादसमासेऽपिणोपदेशस्य' सूत्र से न को ण हो गया है ।

वचांसि—वच्+असुङ्=तानि वचांसि नपुंसकलिंग । वचः वचसी वचांसि । वचः वचसी वचांसि ।

चिन्वताम्—चि=शतृ—चिन्वन् तेषाम् चिन्वताम् ।

मादृशाः—माम् इव एताम् पश्यन्ति जनाः तेषाम्, मादृशाम्, माम् इव आत्मानं पश्यन्ति इति तेषाम् मादृशान् । अस्मद्+दृश्+क्विन् । यहाँ पर "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" सूत्र से म पर्यन्त को अर्थात् 'अस्मद्' में केवल अस्य के स्थान पर 'म' आदेश हो जाता है तब 'मद्' केवल शेष रहता है । इसके अनन्तर अज्ञानार्थक दृश् धातु को त्यदादि पूर्व में रहने पर कञ् या क्विन् प्रत्यय 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" से हो जाता है । यहाँ पर क्विन् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है क्योंकि 'कञ्' प्रत्यय होने पर शब्द अकारान्त होकर राम के समान षष्ठी बहुवचन में मादृशानाम् यह प्रयोग बनेगा परन्तु क्विन् प्रत्यय होने पर हलन्त शब्द रहेगा । मद्+क्विन् ऐसी अवस्था में 'आ सर्वनाम्नः' सूत्र से सर्वनाम को आकार अन्तादेश होता है । अतः यहाँ पर 'मद्' के द को आ होकर मादृश् था षष्ठी में मादृशाम् रूप सिद्ध हुआ है ।

गिरः—गीर्यते इति गिरः गॄ+क्विप्=गिर्, "गीर्वाग्वाणी सरस्वती" ।

प्रवृत्तिसाराः—प्रवृत्तिः सारो यासां ताः प्रवृत्तिसाराः । प्र+वृ+क्तिन् प्रवृत्तिः, सृ+घञ्=सारः । प्रवृत्ति का अर्थ कोष के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है; जैसे "वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यादथाह्वयः" इत्यमरः । इस अमरकोष के प्रमाण से प्रवृत्ति का अर्थ 'वार्ता' होता है; जैसा कि मल्लिनाथ ने व्यक्त किया है । दूसरा अर्थ प्रवर्त्तन भी मेदनी कोष के अनुसार होता है "प्रवृत्तिस्तु प्रवाहे स्यात् उदन्ते च प्रवर्त्तने" इति । इसके अनुसार 'प्रर्त्तन' अर्थ करना चाहिए । 'सार' का अर्थ बल होता है 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः ।

खलु—यह अव्ययवाचक शब्द है । 'खलु' शब्द का प्रयोग कोष-वचन के अनुसार अनेक अर्थों में होता है । 'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु" "समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः" इत्यमरः । मेदिनीकोष के अनुसार "खलु स्याद्वा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्यभूषायां जिज्ञासायां च सान्त्वने। वीप्सामाननिषेधेषु पूरणे पादवाक्ययोः" इति मेदिनी।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास। यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है।

विशेष—यहाँ पर किरात यह नीतिपूर्ण वाक्य युधिष्ठिर से कहता है कि वह कुटिल दुर्योधन आपके साथ कुटिलता का व्यवहार करना चाहता है और अपने कपट-पूर्ण आचरण से सम्पूर्ण प्रजा को अपने वश में करके आपको जीतना चाहता है ऐसा मैंने उसके व्यवहार को देखकर अनुमान किया है। अतः ऐसी अवस्था में आपका क्या कर्तव्य है इस विषय में मैं आपको क्या वता सकता हूँ। मेरा कार्य तो वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान करके उससे आपको अवगत कराना मात्र है। क्योंकि मेरे समान गुप्तचरों का केवल यही कार्य होता है कि सम्पूर्ण समाचारों से अपने स्वामी को अवगत कराते रहें। उन्हें किसी भी कार्य को निर्धारण करने का उपदेश नहीं दे सकते। समय को देखते हुए आप स्वयं अपने कर्तव्य को निर्धारण करने में समर्थ हैं। इतना सव होने के फलस्वरूप मेरा यही आपसे निवेदन है कि आप इस सम्वन्ध में जो कुछ करना चाहते हों उसमें शीघ्रता कीजिए ॥ २५ ॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णसवनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥२६॥

अन्वय—अथ, इति, गिरम्, ईरयित्वा, आत्तसत्क्रिये, वनसन्निवासिनां, पत्यौ गते (सति) महीभुजा, कृष्णासदनं, प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद् वचः, आचचक्षे ॥

वाच्यान्तरम्—इति ईरयित्वा आत्तसत्क्रिये वनसन्निवासिनां पत्यौ गते महीभुक् कृष्णासदनं प्रविश्य, वा सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ कृष्णां प्रति आचचक्षे ॥

इतीति—वनसन्निवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वोक्त्वाऽऽत्त-सत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति। 'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेतनम्। ते हि तल्लोभात्स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते। अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णासदनं द्रौपदी-भवनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वनेचरोक्तं वचो वाक्यमाचचक्ष आख्यातम्। अथवा कृष्णेति पदच्छेदः। सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णाऽऽचचक्ष आख्याता। चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट् ॥

अर्थ—इस प्रकार वनेचर से सभी बातें कहकर यथोचित पुरस्कार आदि ग्रहण कर चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी के भवन में जाकर अपने छोटे भाइयों के सामने उसे वनेचर की बात को द्रौपदी से कहा।

व्याख्या—अथ=तदनन्तरम् (उसके बाद) इति=पूर्वोक्ताम् (पहले कही गई) गिरम्=वाणीम् (वाक्यों को) ईरयित्वा=उक्त्वा (कह करके) आत्तसत्क्रिये=गृहीत-पुरस्कारे (यथोचित पुरस्कार के प्राप्त कर लेने पर, वनसन्निवासिनाम् (किरात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भीलादिकों ने) पत्यौ=स्वामिनि (स्वामी के) गते सति=प्रस्थिते सति (घर को चले जाने पर) महीभुजा=भूपतिना युधिष्ठिरेण (राजा युधिष्ठिर ने) कृष्णासदनम् द्रोपदी-भवनम् (द्रोपदी के रनिवास में) प्रविश्य=अन्तर्गत्वा (अन्दर जा करके) अनुजसन्निधौ =लघुभ्रातृसमक्षे (अपने छोटे भाईयों के सामने) तद्=वनेचरोक्तम् (वनेचर के द्वारा कही गई (वचः=वाणीं, वचनम् (वचनों को) आचचक्षे=आख्यातवान् (ज्यों का त्यों वर्णन किया)।

व्याकरणम्—अथ=यहाँ पर 'अथ' का अर्थ अनन्तर किया गया है परन्तु यहाँ पर 'मंगल' अर्थ होना चाहिए क्योंकि वह युधिष्ठिर का विजय-मंगल है। अर्थ्यते इति अथ। अर्थ याच्चायाम् धातु से बाहुलकात् 'ड' प्रत्यय होने के पश्चात् "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" से 'र' का लोप हो जाता है। 'अथ' का प्रयोग कोष के अनुसार विभिन्न अर्थों में किया जाता है "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ" इत्यमरकोषः। मेदिनीकोश के अनुसार भी "अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले। विकल्पानन्तर-प्रश्नकात्स्न्र्यारम्भसमुच्चये" इति मेदिनी॥

इति—यहाँ पर इति शब्द का प्रयोग प्रकरण अर्थ में किया गया है। विश्व-कोष के अनुसार 'इति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में होता है। जैसा कि—"इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु। निदर्शने प्रकारे स्यादनुकर्षे च संयतम्" एति, अयति व=इति यहाँ इण् गतौ धातु से 'क्तिच्' सूत्र ३।३।१७४ से क्तिच् प्रत्यय होता है।

गिरम्—गृणन्ति एताम् इति गीः ताम् गिरम्। गृ+क्विप्=गीः। भागुराचार्य के मत से 'गिरा' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे "ब्राह्मणी वचनं वाचा जल्पितं गदितं गिरा।"

ईरयित्वा—ईर्=णिच्+क्त्वा=ईरयित्वा।

आत्तसत्क्रिये—आत्ता गृहीता सत्क्रिया येन सः आत्तसत्क्रियः तस्मिन्=आत्त-सत्क्रिये। आ+दा+क्त=स्त्रियाम् आत्ता। यद्यपि दा धातु से क्त प्रत्यय होने पर "दो दद्घोः" ७।४।४६ सूत्र से 'दा' के स्थान पर दद् आदेश होकर 'दत्तः' सिद्ध होता है परन्तु जहाँ पर अजन्त उपसर्ग होता है वहाँ 'दा' के स्थान पर क्त प्रत्यय होने पर 'त' हो जाता है "अचः उपसर्गात्तः" ७।४।४७ सूत्र से यह सिद्ध होता है। पुंलिंग में आत्त, स्त्रीलिंग में आत्ता सिद्ध होता है। वनसन्निवासिनाम्=वने सन्निवसन्ति ये ते वनसन्निवासिनः तेषाम् वनसन्निवासिनाम्। सम्+नि+वस्+णिनि तत्पुरुष समास। पत्यौ=पाति रक्षति इति पतिः तस्मिन् पत्यौ। पा धातु से उणादि सूत्र 'पातेर्डतिः' सूत्र से 'डति' प्रत्यय होकर पति सिद्ध होता है। महीभुक्=महीं भुनक्ति इति महीभुक् तेन महीभुजा। कृष्णासदनम्—कृष्णायाः सदनम् कृष्णासदनम्। कर्षति अरीन् कृष्णः स्त्री चेत् कृष्णा कर्षति मनः इति। कृष्णा शब्द का प्रयोग द्रौपदी के लिये भी किया जाता है "कृष्णा स्याद्द्रौपदी" इति मेदिनीकोशः।

सीदन्ति अत्र इति सदनम्। सद्लृ धातु से औणादिक 'अधिकरणे युच्, सूत्र से 'युच्' प्रत्यय होकर सदनम् बनता है। "निशान्तपस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यमरः। सदनम् का प्रयोग जल के लिये भी किया जाता है; जैसे 'सदनं मन्दिरे तोये' इति कोषः। ण्यन्त से युच् प्रत्यय होने पर सादनम् भी होता है इस प्रकार सदनं सादनम् यह दो रूप होते हैं। द्रष्टव्य अमरकोष सुधा व्याख्या।

प्रविश्य—प्र+विश्+क्त्वा—ल्यप्=प्रविश्य।

अनुजसन्निधौ—अनु पश्चात् जायते इति अनुजः, अनुजस्य सन्निधिः इति अनुजसन्निधिः तस्मिन् अनुजसन्निधौ। अनु+जन्+ड पाणिनि सूत्र 'उपसर्गे च' ३।२।९९ कनिष्ठ भाई के लिये ये शब्द प्रयुक्त होते हैं "जघन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवर-जानुजाः" इत्यमरः। सन्निधिः—सम्+नि+धा+कि "उपसर्गे घोः किः" ३।३।९२ "सन्निधिः संनिकर्षणम्" इत्यमरः॥

व्याख्या—वनेचर ने, राजनीति सम्बन्धी सभी दाँव-पेंच जो दुर्योधन इस समय सबको अपने वश में करने के लिये कर रहा है, वे सभी राजा युधिष्ठिर को बतला दिये। तदनन्तर महाराज युधिष्ठिर ने इस कार्य के लिए पारितोषिक दिया। क्योंकि 'तुष्टिदानमेव हि चाराणा वेतनम्।' तुष्टिदान ही गुप्तचरों का वेतन होता है। उसी के लोभ से स्वामी का कार्य करने में शीघ्रता करते हैं, ऐसी नीति विद्वानों ने बतलाई है॥

समाचार प्राप्त होने पर क्या करना चाहिए इस पर विचार करना आवश्यक है। यह सोचकर उन्होंनें भवन में द्रौपदी के समक्ष सभी बातें कहीं। क्योंकि एकाकी गहन विषय पर विचार करना ठीक नहीं। यहाँ पर यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है कि भवन में प्रवेश करके भाइयों के सामने द्रौपदी से सभी बातें कहीं। कारण यह है कि युधिष्ठिर की बातों का उत्तर तुरन्त द्रौपदी ही देती है तथा द्रौपदी पर सभी भाइयों का समान स्नेह है। साथ ही राजनीति के अंगों को भी द्रौपदी समझने में चतुर है आगे कही जाने वाली द्रौपदी की बातें नीतिपूर्ण और तर्कसंगत हैं। युधिष्ठिर ने सभी बातें अपने आत्मीय सभी भाइयों के समक्ष स्पष्ट की, जिससे सभी लोग कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होने का प्रयास करें, यही तात्पर्य है॥२६॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥२७॥

अन्वय—ततः द्रुपदात्मजा, द्विषतां, सिद्धिं, निशम्य, ततस्त्याः, अपाकृतीः, विनियन्तुम्, अक्षमा, (संती) नृपस्य, मन्युव्यवसायदीपिनीः, गिरः, उदाजहार॥

वाच्यान्तरम्—द्विषतां सिद्धिं निशम्य, ततः ततस्त्यां अपाकृतीर्विनियन्तुम्, अक्षमया द्रौपद्या नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजह्रिरे।

निशम्येति। अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्त-दन्तरम्। ततो द्विषद्भ्य आगतास्ततस्त्याः 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्। अपाकृतीर्विकारा-न्विनियन्तु निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधोद्योगयो-र्दीपिनीः संवर्धिनीः गिरो वाक्यान्युदाजहार जगादेत्यर्थः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थ—तब महाराज द्रुपदसेन की पुत्री द्रोपदी अपने शत्रुओं की उन्नति को सुनकर उससे उत्पन्न होने वाले चित्त के विकारों को रोक सकने में असमर्थ होती हुई अपने पति महाराज युधिष्ठिर के क्रोध तथा शत्रु-विनाश के लिये सहायता प्रदान करने वाले वचनों को बोली ॥

व्याख्या—ततः=तदनन्तरम् (राजा युधिष्ठिर के मुख से वनेचरोक्त समाचारों को सुनने के बाद) द्रुपदात्मजा=द्रुपद-पुत्री (राजा द्रुपदसेन की पुत्री द्रोपदी) द्विषताम् =शत्रूणाम् (शत्रुओं की) सिद्धिम्=उन्नतिम् (उन्नति को) निशम्य=श्रुत्वा (सुन करके) ततस्त्याः=तत आगताः (उससे उत्पन्न हुए विकारों को अपाकृतीः=अपकारान् (अपमानों को) विनियन्तुम्=निरोद्धुम् (दूर करने में या रोकने में) अक्षमा=असमर्था (असमर्थ) नृपस्य=राज्ञो युधिष्ठिरस्य (राजा युधिष्ठिर के) मन्युव्यवसायदीपिनीः =क्रोधोद्योगदीपिनीः (क्रोध और उद्योग को बढ़ाने वाली) गिरः=वाचः (वाणी को) उदाजहार=उक्तवती (बोली)।

व्याकरणम्—द्रुपदात्मजा=आत्मनो जाता इत्यात्मजा (द्रुपदस्य आत्मजा द्रुपदात्मजा) आत्मन्+जन्+ड टि का लोप तथा स्त्रीलिंग में टाप्। द्विषताम्= द्विष्+शतृ षष्ठी बहुवचन।

सिद्धिम्—सिध्+क्तिन्।

निशम्य—नि+शम्+क्त्वा—ल्यप्=निशम्य। शम् धातु का प्रयोग देखने तथा सुनने इन दो अर्थों में होता है। सुनने के अर्थ में निशमयति तथा देखने के अर्थ में निशामयति प्रयोग होता है।

ततस्त्याः—तत आगताः इति ततस्त्याः सर्वनाम तद् शब्द से पंचम्यन्त अर्थ में 'पंचम्याः तसिल्' से तसिल् प्रत्यय होकर ततस् सिद्ध होता है पुनः 'अव्ययात्त्यप्' से त्यप् प्रत्यय होकर ततस्+त्य=ततस्त्याः।

अपाकृतीः—अप+आ+कृ+क्तिन्=अपाकृतिः ताः अपाकृतीः। यहाँ पर 'अपाकृतीः' का अर्थ 'अपमानों को' होना चाहिये परन्तु महापण्डित श्री मल्लिनाथ ने विकारान् अर्थात् 'प्रकृति के विक्षोभ' अर्थ किया है। वस्तुतः अपमान वही है जिससे प्रत्येक क्षण स्मृति आ जाने पर मन दुःखी हो उठे और बदला लेने की प्रवृत्ति जाग पड़े। द्रोपदी के साथ यही सबसे बड़ा अपमान हुआ कि उसे बाल पकड़ कर घसीटा गया। स्त्रियों के लिए यह मरण तुल्य अपमान है। इस प्रकार के अपमान से तो प्रकृति सदैव विक्षिप्त रहती है। यही अभिप्राय है। विनियन्तुम्=वि+नि+यम्+ तुमुन्=विनियन्तुम्।

अक्षमा—क्षम्यते, क्षमते वा क्षमा न क्षमा अक्षमा (नञ् तत्पुरुष) क्षमूष् सहने धातु से स्त्रीलिङ्ग में "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" ३।३।१०४ से अङ् प्रत्यय होकर क्षमा सिद्ध होता है। तथा जब दिवादिगणी 'क्षम्' धातु से सिद्धि होगी तो ३।३।१३४ सूत्र से अच् प्रत्यय होगा। स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर टाप् हो जायगा। क्षमा शब्द के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है "क्षमा तितिक्षा पृथ्वी च योग्ये शक्ते हिते क्षमम्।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नृपस्य—नॄन् पाति इति नृपः तस्य नृपस्य । नृ+पा धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' ३।२।३ से क प्रत्यय ।

मन्युव्यवसायदीपिनीः—मन्युश्च व्यवसायश्च मन्युव्यवसायौ, मन्युव्यवसायौ दीपयन्तीति मन्युव्यवसायदीपिन्यः ता मन्युव्यवसायदीपिनीः । मन् धातु से उणादीय 'युः' प्रत्ययः=मन्युः । सूत्र 'मनिजनिदसिभ्यो युः" । मन्यु का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है । हेमचन्द्राचार्य के मत से "मन्युः दैन्ये क्रतौ क्रुधि" । अमरकोष का भी मत है । मेदिनीकोष में भी 'मन्युः पुमान् क्रुधि दैन्ये शोके यज्ञे च' इस प्रकार 'मन्यु' शब्द का प्रयोग दीनता के अर्थ में, क्रोध के अर्थ में तथा यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है । क्रोध के अर्थ में यह पुलिंग रहता है शेष में स्त्रीलिंग । यथा "मन्युशोकौ तु शुक् स्त्रियाम्" इत्यमरः ।

वि+अव्+सो+भावे घञ्=व्यवसायः ।

छन्द—वंशस्थ—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ।

अलंकार—काव्यलिङ्ग="काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता" हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कहना काव्यलिङ्ग अलंकार होता है । यहाँ पर द्रौपदी के द्वारा राजा के क्रोध और उद्योग को बढ़ाने वाले वाक्यों के प्रयोग करने पर शत्रुओं के उत्कर्ष को सुनकर उसके प्रतीकार की बात कही गई है । अतः पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है ।

व्याख्या—वनेचर के द्वारा प्राप्त समाचारों को जब द्रौपदी के सामने राजा युधिष्ठिर ने कहा तो द्रौपदी क्षत्रिया होने के कारण अपमान करने वाले शत्रुओं की उन्नति को सुनकर उसका हृदय क्रोधपूर्ण बदला लेने की भावना से भड़क उठा । इस कारण अपने प्रति किये गये अपकारों को स्मरण कर मन में उठे हुए विकारों को रोकने में असमर्थ होने के कारण महाराज युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि को प्रज्वलित करने वाली वाणी को कहा । जिससे वे अपने अपमान का बदला लेने के लिए तत्पर हो उठें ॥२७॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥२८॥

अन्वय—(यद्यपि) भवादृशेषु, प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेपः, इव, भवति तथाऽपि, निरस्तनारीसमयाः दुराधयः, मां वक्तुं, व्यवसाययन्ति ॥

वाच्यान्तरम्—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितेन अनुशासनेन अधिक्षेपेण इव भूयते तथाऽपि निरस्तनारीसमयैर्दुराधिभिरहं वक्तुं व्यवसाय्ये ।

भवादृशेष्विति । भवादृशा भवद्विधाः । पण्डिता इत्यर्थः । तेषु विषये । 'त्यदादिषु—' इत्यादिना कञ् । 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः । प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम् । वेदः क्तः । 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अनुशासनं नियोगवचनमधिक्षेपस्तिरस्कार एव भवति । अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः । तथाऽपि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारीसमयास्त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचाराः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। दुराधयः समयोल्लङ्घनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति। न किञ्चिदयुक्तं दुःखितानामिति भावः॥

अर्थ—यद्यपि आप जैसे महानुभावों के प्रति मेरे समान साधारण बुद्धि वाली स्त्रियों की कही कई हुई बातें अपमान के समान हैं। अतः आपको उपदेश देना आपका अपमान करना है। फिर भी मेरा मन शत्रुओं से प्राप्त अपमान से दुखी होकर स्त्रियोचित शील को हटाकर बोलने को प्रेरित करता है॥

व्याख्या—भवादृशेषु=भवद्विधेषु राजनीतिपण्डितेषु (आपके समान राजनीति के विद्वानों के प्रति) प्रमदाजनोदितम्=स्त्रीजनोक्तम् (स्त्रियों से कही गई)=उपदेश-वचनम्=अनुशासनम् (उपदेशपूर्ण वाणी) अधिक्षेपःइव=तिरस्कार इव (अपमान के समान ही) भवति=जायते (होता है) तथापि=पुनरपि (फिर भी) निरस्तनारीसमयाः =ध्वस्तस्त्रीशीलाः (स्त्रियों की शालीनता को नष्ट कर देने वाली) दुराधयः=दुष्टम-नोव्यथाः (दुष्ट मन को क्षुभित करने वाली व्यथायें) माम् द्रौपदीम् (मुझ द्रौपदी को) वक्तुम्=कथयितुम् (कहने के लिए) व्यवसाययन्ति=प्रेरयन्ति (प्रेरित करती है)॥

व्याकरणम्—भवन्तमिव पश्यन्ति इति भवादृशाः तेषु भवादृशेषु। भवत् पूर्वक दृश् धातु से कञ् तथा क्विन् ये दो प्रत्यय होते हैं। अन्तर यह है कि कञ् प्रत्यय होने पर अकारान्त पुंलिङ्ग रूप होता है और क्विन् प्रत्यय होने पर हलन्त रूप होता है। यहाँ पर कञ् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। भवत् पूर्वक दृश् रहने पर "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" से कञ् प्रत्यय होता है तो भवत्+दृश्+अ ऐसी अवस्था मे "आ सर्वनाम्नः" इस सूत्र से सर्वनाम भवत् शब्द को 'आकार' अन्तादेश होकर सवर्ण दीर्घ हो जाने पर भवादृश तथा सप्तमी के बहुवचन में भवादृशेषु सिद्ध होता है।

प्रमदाजनोदितम्—प्रकृष्टो मदः इति प्रमदः, प्रमदः अस्ति अस्या इति प्रमदा वा प्रमदं करोति इति प्रमदा, प्रमदा चासौ जनश्च इति प्रमदाजनः, प्रमदाजनेन उदितम् इति प्रमदाजनोदितम्। मदी हर्षे इस धातु से "प्रमदसंमदौ हर्षे" ३।३।३८ सूत्र से जब प्रमद और संमद हर्ष के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो अप् प्रत्यय हो जाता है। अप् प्रत्यय हो जाने के अनन्तर मत्वर्थ मानकर अर्थात् 'अस्ति अस्याः' इस अर्थ में 'अर्शआदिभ्योऽच्' से अच् प्रत्यय स्त्रीत्व की विवक्षा में होकर प्रमदा सिद्ध होता है। वद्+क्त=उदितम्। कोश के अनुसार "प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसंमदाः" से प्रमद का अर्थ प्रसन्नता होता है। परन्तु 'प्रमदः संमदे मत्ते स्त्रियामुन्मदयोषिति" तथा 'प्रमदा मानिनि कान्ता ललना च नितम्बिनी" इन कोशवचनों के अनुसार प्रमदा स्त्री अर्थ का भी वाचक है और यही अर्थ यहाँ पर अभीष्ट है। मद का अर्थ मतवालापन भी होता है। इस प्रकार यह भी अर्थ हो सकता है कि जो अपने हाव-भाव, कटाक्षों से लोगों को मतवाला बना दे उसे प्रमदा कहते हैं।

अनुशासनम्—अनुशिष्यते इति अनुशासनम्। अनु+शास्+ल्युट्=अनुशासनम्।

अधिक्षेप—अधि क्षिप्यते इति अधिक्षेपः। क्षिप्-धातु से घञ् प्रत्यय होकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिक्षेपः सिद्ध होता है। इसका निन्दा के अतिरिक्त 'व्यङ्ग्य' भी अर्थ होता है। तिरस्कार बोधक भी यह शब्द है "अधिक्षेपः समाक्षेपो व्यङ्ग्ययुक्त वचोऽपि वा"।

निरस्तनारीसमयाः—नारीणां समयाः नारीसमयाः निरस्ताः नारीसमयाः यैस्ते निरस्तनारीसमयाः। निर्+अस्+क्त=निरस्तः।

नारी—नृ अथवा नर शब्द से "नृनरयोर्वृद्धिश्च" ४।१।७३ इस वार्त्तिक से वृद्धि तथा ङीप् होकर नारी बनता है। मुकुटाचार्य ने 'नुर्नरस्य व धर्म आचारोऽस्याः' इस अर्थ में "ननराभ्यां च" ४।४।४९ से अञ् तथा वृद्धि और टिड्ढाणञ् ४।१।१५ से ङीप् करके नारी सिद्ध किया है। अथवा नुर्नरस्य वेयम् यह मानकर 'तस्येदम्' ४।३। १२० से अण् ततः वृद्धि करके नारी सिद्ध करते हैं। परन्तु अप्रसिद्ध होने के कारण तथा ङीप् और ङीन् में स्वरभेद होने के कारण यह युक्त नहीं। यदि तस्येदम् से अण् करके नारी बनाया जायगा तो 'नृनरयोश्च' यह वार्तिक व्यर्थ हो जायगा।

निरस्त का प्रयोग त्यागने के अतिरिक्त बाण-प्रयोग और शीघ्र कहने अर्थ में भी होता है; जैसे "निरस्तः प्रेषितशरे संत्यक्तस्त्वरितोदिते। निष्ठ्यूते प्रतिहते च" इति।

समयाः—समेति इति समया सम उपसर्ग इण् गतौ धातु से आसमिण् निकपिभ्याम् इस उणादि सूत्र से आ प्रत्यय होकर समया सिद्ध होता है। कोश के अनुसार "समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः।

दुराधयः—दुः दुष्टाः आधयः दुराधयः। आ+धा+धातु ने 'उपसर्गे घोः किः' से कि प्रत्यय होकर दुराधयः सिद्ध होता है। "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इति कोशः।

व्यवसाययन्ति—वि+अव उपसर्ग पूर्वक षो अन्तकर्मणि धातु णिजन्त लट् के प्रथमा बहुवचन में वि+अव+सो+णिच्+लट् अन्ति होता है। यहाँ पर प्रथम "धात्वादेः षः सः" से ष को 'स' ततः 'आदेच उपदेशेऽशिति" से ओ के स्थान पर आ हो गया। तब "शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्" ७।३।३७ से युक् का आगम होकर व्यवसाययन्ति सिद्ध होता है।

छन्द—वंशस्थ—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में 'उपमा' है "साधर्म्यमुपमाभेदे" उत्तरार्ध में वाक्यार्थ-हेतुक काव्यलिङ्ग। दोनों का मिश्रण होने से संसृष्टि अलङ्कार है।

विशेष—द्रोपदी ने शत्रुकृत अपमान को तथा उसकी उत्तरोत्तर उन्नति को सुनकर अपने धैर्य की सीमा को खो दिया। इस समय वह अपने मानसिक कष्ट को सहन करने में असमर्थ हो उठी फिर भी उसने अपने पर संयम रखा और युधिष्ठिर से कहा कि सफल नीति को जानने वाले आप जैसे महान् राजनीतिज्ञों को मैं कुछ उप-देश दूँ यह तो आपका अपमान करना होगा फिर भी मैं इस समय शत्रुकृत अपमान का स्मरण करके अत्यन्त मानसिक व्यथा से क्षुब्ध हो उठी हूँ। वही मनोव्यथाएँ अपनी स्त्रियोचित शिष्टता-शालीनता को त्यागकर मुझे कुछ कहने के लिए बाध्य कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रही हैं। मैं व्यथा से पीड़ित होकर ही आपके समक्ष कुछ कहने का साहस कर रही हूँ ॥२८॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अन्वय—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः, भूपतिभिः, चिरम्, अखण्डं, धृता, मही, मदच्युता, मतङ्गजेन, स्रक्, इव, त्वया, आत्महस्तेन, अपवर्जिता ॥

वाच्यान्तरम्—भूपतिभिर्धृतां महीं मदच्युत्, मतङ्गज इव त्वमात्महस्तेन स्रजमिवापवर्जितवान् ।

अखण्डमिति । आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावैः । स्ववंशजैः भूपतिभिर्भरतादिभिश्चिरमखण्डमविच्छिन्नं धृता मही । त्वया, मदं च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवात्महस्तेन स्वकरेण, स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ।

अर्थ—इन्द्र के समान प्रभावशाली पराक्रमी अपने वंश में उत्पन्न राजाओं ने समुद्रपर्यन्त विस्तृत जिस पृथ्वी को भोग करते हुए बराबर सदैव अपने अधीन रखा, उसी साम्राज्य को आपने अपने ही हाथों द्वारा उसी प्रकार नष्ट कर दिया जैसे कोई मतवाला हाथी अपने गले में पड़ी हुई माला को नष्ट कर देता है ।

व्याख्या—आखण्डलतुल्यधामभिः=इन्द्रतुल्यतेजोभिः (इन्द्र के पराक्रम के समान पराक्रम वाले) स्ववंशजैः=आत्मवंशोद्भवैः (अपने ही वंश में उत्पन्न हुए) भूपतिभिः=भूपैः (भरत आदि राजाओं द्वारा) चिरम्=चिरकालम् (बहुत दिनों तक) अखण्डम्=सम्पूर्णम् (सम्पूर्ण भूमण्डल) धृता=धारिता (धारण की गई) मही=पृथ्वी (पृथिवी) मदच्युता=मदस्राविणा, मदोन्मत्तेन (मद को बहाने वाले (मदोन्मत्त) मतङ्गजेन=मत्तेन हस्तिना (मतवाले हाथी के द्वारा) स्रक्=इव=पुष्पमाला इव (फूलों की माला के समान ।) त्वया=युधिष्ठिरेण (आप राजा युधिष्ठिर के द्वारा) आत्महस्तेन=स्वकरेण एव (अपने हाथों द्वारा ही (अपवर्जिता=त्यक्ता (त्याग दी गई) ।

व्याकरण टिप्पणी—

आखण्डलतुल्यधामभिः=आ समन्तात् खण्डयति इति आखण्डलः, आखण्डलेन तुल्यम् इति आखण्डलतुल्यम् । आखण्डल तुल्यं धाम येषां ते आखण्डलतुल्यधामानः तैः आखण्डलतुल्यधामभिः । आ+खण्ड् धातु से औणादिक "वृषादिभ्यः कलच्' से कलच् प्रत्यय होकर आखण्डलः होता है । "आखण्डलः सहस्राक्षः ऋभुक्षाः" इत्यमरः ।

तुलया समितं तुल्यम् "नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसंमितेषु" ४।४।९१ से यत् प्रत्यय होता है । "समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक् । साधारणः समानश्च" इत्यमरः ।

धीयते दधाति वा धाम । डुधाञ् धातु, उणादि सूत्र 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनिन् प्रत्यय धामन् । "धाम शक्तौ प्रभावे च तेजोमन्दिरजन्मसु" इति विश्वकोषः । "धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्यप्रभावयोः" इति हैमः । "गृहदेहत्विट्प्रभावधामानि" इत्यमरः ।

स्ववंशजैः—स्वस्य वंशः स्ववंशः, स्वश्चासौ वंशश्च स्ववंशः । स्ववंशे जातः स्ववंशज तैः स्ववंशजैः । स्ववंश+जन्+ड प्रत्यय उश्यते भावे घञ् नुम् वंशः । वश् कान्तौ धातु से घञ् तथा 'आच्छीनद्योः ७।१।८०' से नुम् वंशः । "वंशोऽन्वयायः सन्तानः" इत्यमरः ।

भूपतिभिः—भुवः पतिः भूपतिः तैः भूपतिभिः । पा+डति=पतिः ।

चिरम्—अव्ययवाचक शब्द । "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः" इत्यमरः ।

अखण्डम्—न खण्डम् अखण्डम्, अखण्डं यथा स्यात्तथेति अखण्डम् । खडि+ धातु घञ् प्रत्यय । नञ् समास । "समग्रं सकलं पूर्णमखण्डं स्यादनूनके" इत्यमरः ।

धृता—धृ+क्त स्त्रीत्वविवक्षा में मही का विशेषण होने से स्त्रीलिंग टाप् धृता ।

मही—मह्यते पूज्यते इति मही । मह्+उणादि सूत्र अचः इः से 'इ' प्रत्यय महिः "कृदिकारात्" ४।१।४५ से ङीष=मही इति सिद्धम् "गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही" इत्यमरः ।

मदच्युता—मदं च्योतति इति मदच्युत् तेन मदच्युता ।

मतङ्गजेन—मतङ्गात् जातः इति मतङ्गजः नेन मतङ्गजेन । मतङ्ग+जन्+ड =पंचम्यामजातौ ३।२।९८ से ड प्रत्यय । मतङ्गजः । किवदन्ती के अनुसार मतङ्ग ऋषि ने हाथियों को उत्पन्न किया अतः उन्हें मतङ्गजः कहा जाता है । 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः ।

स्रग्—सृज्यते इयम् इति स्रक् । सृज्+क्विन् प्रत्यय । "माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि" इत्यमरः ।

आत्महस्तेन—आत्मनो हस्तः आत्महस्तः तेन आत्महस्तेन । "हस्तः करे करिकरे सप्रकोष्ठकरेऽपि" इत्यमरः ।

अपर्वाजिताः—अप+वृज्+णिच्+क्त । यह स्त्रीलिंग कर्मवाच्य में प्रयुक्त है ।

छन्द— वंशस्थ ।

अलंकार—उपमा "साधर्म्यमुपमाभेदे" इसमें मही उपमेय है और स्रक् उपमान है । दोनों के त्याग में सादृश्य 'इव' साधारणधर्मवाचक शब्द है । इन्हीं कारणों से उपमा अलङ्कार है ।

विशेष—द्रोपदी अपने पूर्व गौरव का स्मरण दिलाती हुई राजा युधिष्ठिर से कहती है कि भारत प्रभृति अनेक राजाओं ने इस सम्पूर्ण पृथिवी का भोग किया है । उन्हीं इन्द्र तुल्य पराक्रम वाले राजाओं के वंश में आपका भी जन्म हुआ है और उन्होंने अखण्ड रूप से शासित सम्पूर्ण भूवलय को आपके हाथों में सौंप दिया है । परन्तु बड़े

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दु:ख का विषय है कि जिस प्रकार कोई अन्धा व्यक्ति अपने गले में गिरी हुई बहुमूल्य माला को सर्प समझकर फेंक देता है या कोई मतवाला हाथी अपने मस्तक में पड़ी सुन्दर माला को अपनी सूँड़ द्वारा नष्ट कर दूर फेंक देता है ठीक उसी प्रकार प्रमाद वश आपने अपने राज्य को खो दिया और इस प्रकार स्वयं बुलाकर लाई गई आपत्ति के उत्तरदायी आप हैं। इसमें हम लोगों के भाग्य को दोष नहीं दिया जा सकता ॥२६॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

अन्वय—ये, मायाविषु, मायिनः न, भवन्ति, ते, मूढधियः, पराभवं, व्रजन्ति, शठाः, तथाविधान् असंवृताङ्गान्, निशिता इषवः इव, प्रविश्य, घ्नन्ति ॥

वाच्यान्तरम्—यैः मायाविषु मायिभिर्न भूयते, तैर्मूढधीभिः पराभवो व्रज्यते शठैः प्रविश्य निशितैरिषुभिरिव तथाविधा असंवृताङ्गा जना हन्यन्ते।

व्रजन्तीति। मूढधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायावत्सु विषये। 'अस्मायामेधा—' इत्यादिना विनि प्रत्ययः। मायाविनो मायावन्तः। व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः, न भवन्ति। अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति। शठा अपकारिणो धूर्तास्तथाविधानकुटिलानसंवृताङ्गानवर्मितशरीरान्निशिता इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि। 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' इति भावः।

अर्थ—जो मनुष्य मायावी कपटी पुरुषों के साथ कपट का व्यवहार न करके सरलता से व्यवहार करते हैं वे मूर्खबुद्धि सदैव पराजय को प्राप्त होते हैं। दुष्ट लोग ऐसे व्यक्तियों में प्रवेश कर उन्हें उसी प्रकार मार डालते हैं, जैसे तीखे वाण नग्न शरीर वाले योद्धा के भीतर घुसकर उसे मार डालते हैं॥

व्याख्या—ये=केचन (जो कोई भी) मायाविषु=कपटिषु (मायावियों में) मायिनः=कपटिनः (कपट व्यवहार करने वाले) न भवन्ति=नैव भवन्ति (नहीं होते हैं) ते=अमायिनः (वे कपट व्यवहार न करने वाले) मूढधियः=मन्दबुद्धयः (मूर्ख बुद्धि वाले) पराभवम्=पराजयम् (पराजय को) व्रजन्ति=गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं) शठाः=दुष्टाः (दुष्ट लोग) तथाविधान्=तादृशान् (उस प्रकार के लोगों को) असंवृताङ्गान्=अनाच्छादितान् (नंगे शरीर वालों को) निशिता=तीक्ष्णाः (अत्यन्त तेज) इषवः=बाणाः इव (बाणों के समान) प्रविश्य=अन्तः प्रविश्य, आत्मीभूय (अन्दर प्रवेश करके या आत्मीय बनकर) घ्नन्ति+मारयन्ति (मार डालते हैं)

व्याकरणम्—मायाविषु—माया अस्ति एषाम् इति मायाविनः तेषु मायाविषु। यहाँ पर "अस्मायामेधास्रजो विनिः' ५।२।१२१ सूत्र से विनि प्रत्यय मतुप् अर्थ में होता है। इसका अर्थ है कि असन्त प्रातिपदिक से और माया, मेधा, स्रज् इन शब्दों से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है। इस प्रकार माया+विन्=मायाविन् सप्तमी बहुवचन में मायाविषु।

मायिनः—मां याति इति माया, विश्वं माति यस्याम् इति माया, माया अस्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एषाम् इति मायिनः। यहाँ मा धातु से 'माछाससिभ्यो यः' इस उणादि सूत्र से 'य' प्रत्यय तथा मतुप् के अर्थ में 'व्रीह्यादिभ्यश्च' से इन् प्रत्यय होकर मायिन् प्रयोग सिद्ध होता है।

मूढ़धियः—ध्यायति अनया इति धीः। मूढाः धीः रेशां ते मूढधियः। ध्यै चिन्तायाम् धातु से "ध्यायतेः सम्प्रसारणं च" १।।१७८ वार्तिक से क्विप् प्रत्यय तथा 'य' को सम्प्रसारण 'इ' ततः (हलः ६।४।२) से दीर्घ होकर धी बनता है। मुह् वैचित्ये धातु से क्त प्रत्यय होकर मुह् त होता है तब 'ह्' को ढ तथा त को 'ध' और ढ होकर पूर्व ढ़ का 'ढो ढे लोपः' से लोप हो जाता है तब "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" से दीर्घ होकर मूढः सिद्ध होता है।

तथाविधान्—तथा विधा व्यापारो येषां ते तथाविधाः तान् तथाविधान्। तद्+प्रकारवचने थाल् से थाल् प्रत्यय होकर तथा बनता है।

असंवृताङ्गान्—न संवृतानि, असंवृतानि, असंवृतानि अंगानि येषां ते असंवृताङ्गाः तान् असंवृताङ्गान्। सम्+वृ+क्त=संवृतम्।

निशिताः—नि+शो+क्त=निशितः। शो तनूकरणे धातु से जब क्त प्रत्यय होता है तो "शाच्छोरन्यतरस्याम् ७।४।४१ से ओ के स्थान पर 'इ' हो जाता है। यह 'इ' आदेश विकल्प से होता है, अतः कहीं-कहीं पर निशितः के अतिरिक्त निशातः भी होता है।

इषवः—"कम्बलमार्गणशरा पत्रीरोपइषुर्द्वयोः" इत्यमरः। इष्यते अनेन इति इषुः। ईष् धातु का प्रयोग गति, हिंसा तथा अदर्शन अर्थों में होता है। यहाँ पर हिंसा अर्थ में ईष् धातु से उणादि सूत्र 'ईषेः किच्च' से 'उ' प्रत्यय हो जाता है। तदनन्तर आदेरिच्च और आदि ई के स्थान पर 'इ' होता है तब 'इषु' रूप होता है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—'इषवः इव' अंश में 'साधर्म्यमुपमा भेदे' के अनुसार उपमा, शेष में अर्थान्तरन्यास। "सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणंतरेण वा" सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न के द्वारा जो समर्थन किया जाता है उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं। यहाँ जो शठ के साथ शठता नहीं करते वे पराजित होते हैं। इस सामान्य कथन का तीक्ष्ण शर अनावृत शरीर में प्रवेश कर वध कर डालते हैं इस विशेष से समर्थन होता है अतः अर्थान्तरन्यास है। उपमा तथा अर्थान्तरन्यास दोनों तिल और चावल के समान मिलकर भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, अतः संसृष्टि है।

विशेष—द्रौपदी का कहना है कि हे महाराज! इस मायापूर्ण संसार में मायावियों के साथ मायापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति का आश्रयण लेकर हो लोग सुखपूर्वक जीवन-यापन कर सकते हैं। क्योंकि यदि दुष्टों के साथ सज्जनता का व्यवहार किया जाय तो वे इसे दुर्बलता समझते हैं अतः "आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः"। अतः हे महाराज! आपको इस समय यही करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपयुक्त है कि उनको वैसा ही कुटिलतापूर्ण उत्तर दिया जाय। खलों और कंटकों के साथ दो ही उपाय करना चाहिए। कहा भी गया है कि "खलानां कंटकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया। उपानन्मुखभंगो वा दूरेणैव विसर्जनम्"। परन्तु दूर से त्याग देना क्षत्रियों के लिए शोभा नहीं देता। अतः येन केन उपायेन अपने गत राज्य को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है ॥३०॥

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥३१॥

अन्वय—अनुरक्तसाधनः, कुलाभिमानी, नराधिपः, त्वदन्यः, कः, इव, गुणानुरक्तां, कुलजां मनोरमाम्, आत्मवधूम्, इव, श्रीयम्, परैः, अपहारयेत् ॥

वाच्यान्तरम्—अनुरक्तसाधनेन कुलाभिमानिना नराधिपेन त्वदन्येन केन इव गुणानुरक्ता कुलजा मनोरमा आत्मवधूरिव श्रीः परैरपहार्येत।'

गुणेति। अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान्। उक्तं च कामन्दकीये 'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः। छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीः सहचारिणी।' इति। कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः। "अन्यारात्—" इत्यादिना पञ्चमी। क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्चानुरक्तामनुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः। परैः शत्रुभिरन्यश्चापहारयेत्। स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः। कलत्रापहारवल्लक्ष्यपहारोऽपि राज्ञां मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः ॥

अर्थ—तुम्हारे अतिरिक्त ऐसा कौन सा राजा हो सकता है जो अनुकूल साधनों तथा स्वयं सुन्दर कुल की मर्यादा रखने वाला होकर भी अपने गुणों पर स्वयं अनुरक्त रहने वाली, कुलीना तथा मन मोहने वाली अपनी स्त्री के समान वंश-परम्परा से चली आती हुई राजलक्ष्मी को अपने आप शत्रुओं के हाथों में जाने दे सकता है।

व्याख्या—अनुरक्तसाधनः=अनुकूलसहायसम्पन्नः (अनुकूल सहायकों वाला कुलाभिमानी=क्षत्रियत्वाभिमानी, कुलीनत्वाभिनानी (क्षत्रियत्व का अभिमान रखने वाला, लक्ष्मी के पक्ष में अपने अच्छे कुल का अभिमान रखने वाली) नराधिपः=नरपतिः (मनुष्यों का स्वामी अर्थात् राजा) त्वत्=त्वत्तः (तुम्हारे) अन्यः=भिन्नः (अतिरिक्त) क इव=को वा (कौन हो सकता है) गुणानुरक्ताम्=गुणैरनुरागवतीम् (सद्गुणों में अनुरक्त रहने वाली स्त्री को, तथा सन्धि, विग्रह, द्वैधीभाव आदि ६ गुणों से लक्ष्मी को) कुलजाम्=कुलीनां कुलक्रमागताम् (अच्छे कुल में उत्पन्न स्त्री को तथा वंश-परम्परा से प्राप्त राज्य-लक्ष्मी को) मनोरमाम्=मनोऽनुकुलाम्, हृद्याम् (मन के अनुकूल गुणों वाली स्त्री को तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली लक्ष्मी को) आत्मवधूम्=स्वपत्नीम् (अपनी धर्मपत्नी के समान) श्रियम् लक्ष्मीम् गृहिणीम् (राज्यलक्ष्मी को तथा अपनी धर्मपत्नी को) परैः=शत्रुभिः (शत्रुओं के द्वारा) अपहारयेत्=विनाशयेत् (स्वयम् अपहरण करवा दे)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याकरणम्—अनुरक्तसाधनः=साधयति अनेन इति साधनम्, अनुरक्तं साधनं यस्य सः अनुरक्तसाधनः । साधनम् की व्युत्पत्ति साध् धातु से णिच् प्रत्यय होने पर साधयति अनेन इति साधनम् तथा सिध् धातु से सिध्यते अनेन इति साधनम् । यहाँ पर सिध्+ल्युट् प्रत्यय तथा "सिध्यतेरपारलौकिके" ६।१।४९ से इ के स्थान पर आत्व साध्+ल्युट्—अन्=साधनम् । बहु०कुलाभिमानी=कुलस्य अभिमानः कुलाभिमानः कुलाभिमानोऽस्यास्तीति कुलाभिमानी । अभि+मन्+घञ्=अभिमानः+इनि अभिमानी । कुलजाम्=कुले जायते इति कुलजा ताम् कुलजाम् । यह पद श्रियम् तथा आत्मवधूम् इन दोनों का विशेषण है ।

नराधिपः=नराणाम् अधपिः नराधिपः । अधिपाति इति अधिपः । अधि+पा+क=अधिपः ।

परैः=इसका अर्थ शत्रु के द्वारा होता है पर का अर्थ शत्रु और अन्य भी होता है । जैसे "अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिन" इत्यमरकोशः ।

मेदिनीकोश के अनुसार—परा श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे इति । पिपर्ति रोषम् इति परः अच् प्रत्यय । "नन्दिग्रहिपचोदिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ ।

त्वत्=यहाँ पर "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" से अनु शब्द के योग में पंचमी विभक्ति हो गई ।

गुणानुरक्ताम्=गुणैः अनुरक्ता गुणानुरक्ता ताम् गुणानुरक्ताम् । अनु+रञ्ज्+क्त+टाप् द्वितीया विभक्ति । कोश के अनुसार 'गुण' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों के लिये किया जाता है । जैसे 'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये । त्यागे शौर्यादिसन्ध्यादिसत्त्वाद्यावृत्तिरज्जुषु । शुल्लादौ' इति मेदिनीकोशः । यहाँ पर गुण शब्द का प्रयोग सन्धि आदि ६ गुणों के लिए तथा सौन्दर्य आदि गुणों के लिए किया गया है ॥

मनोरमाम्=रमयति इति रमा, मनसः रमा मनोरमा ताम् मनोरमाम् ।

आत्मवधूमिव=आत्मनः वधूः आत्मवधूः ताम् आत्मवधूम् ।

छन्द—वंशस्थ ।

अलंकार—पूर्णोपमा । वधू और श्री में साधर्म्य है । इव वाचक शब्द है । उपमान तथा उपमेय का निर्देश है, इस कारण पूर्णोपमालङ्कार यहाँ पर है ॥३१॥

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥३२॥

अन्वय—हे नरदेव ! एतर्हि, मनस्विगर्हिते, वर्त्मनि, विवर्त्तमानं, भवन्तम्, उदीरितः, मन्युः, उच्छिखः, अग्निः, शुष्कं, शमीतरुं, इव, कथं, न, ज्वलयति ॥

वाच्यान्तरम्—हे नरदेव ! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानो भवान् उदीरितेन, मन्युना, उच्छिखेन अग्निना शुष्कः शमीतरुरिव कथं न ज्वल्यते ॥

भवन्तमिति । हे नरदेव नरेन्द्र ! एतर्हीदानीम्, अस्मिन्नपत्कालेऽपीत्यर्थः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः 'इदमो र्हिल्' इति र्हिल्प्रत्ययः। 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः। आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजनजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गे विवर्तमानम् शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः। भवन्तं त्वामुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः। शुष्कं नीरसम् 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः। शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः। तम् शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम्। उच्छिख उद्गतज्वालः। 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः। वह्निरिव। कथं न ज्वलयति ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः॥

अर्थ—हे नरदेव राजा युधिष्ठिर इस समय वीरों के निन्दनीय मार्ग में वर्तमान आपको सहसा उत्पन्न क्रोधाग्नि उसी प्रकार क्यों नहीं उत्तेजित करती है जैसे सूखे शमीवृक्ष को प्रज्वलित अग्नि जला डालती है॥

व्याख्या—हे नरदेव=हे मानवेन्द्र (मनुष्यों में देवताओं के समानश्रेष्ठ) एतर्हि साम्प्रतम् (इस समय) मनस्विगर्हिते=मनस्विजननिन्दिते (मनस्वी जनों से निन्दित) वर्त्मनि=मार्गे (मार्ग पर) विवर्तमानम्=स्थितम् (वर्तमान) भवन्तम्=त्वाम् (आप युधिष्ठिर को) उदीरितः=उद्दीपितः (बढ़ा हुआ) मन्यु=क्रोधः (शत्रु के द्वारा किये गये अपमान से उत्पन्न क्रोध) उच्छिखः—उर्ध्वज्वालः (ऊपर को उठी हुई लपटों वाला) अग्निः=वह्निः=(आग) शुष्कम्=नीरसम् (सूखे हुये नीरस)। शमीतरुम्=शमीनामकवृक्षम् (शमी नामक वृक्ष की लकड़ी को, शमी का प्रयोग शीघ्र जलने के कारण किया गया है) कथम्=कस्मात् (क्यों) न ज्वलयति=न दहति (नहीं जलाता है।)

व्याकरण टिप्पणी—हे नरदेव! दीव्यति प्रकाशयति इति देवः, नराणां देवः नरदेवः तत्सम्बुद्धौ हे नरदेव! नृ नये धातु से अच् प्रत्यय होकर नर बनता है। जिसका अर्थ होता है नरति पूर्वपुरुषानुत्तमां गतिम् इति नरः कुछ लोग उणादि से ऋन् प्रत्यय करके सिद्ध करते हैं परन्तु यह उचित नहीं क्योंकि तब यह अजन्त रूप नहीं रहेगा। दिव् धातु से 'पचादिभ्योऽच्' ३।३।१३४ से अच् होकर देव बनता है। यह देवताओं के अतिरिक्त राजा का भी वाचक है "देवं हृषीके देवस्तु नृपतौ तोयदे सुरे" इति हैमः। "जारा भट्टारको देवः" इत्यमरः।

एतर्हि=अस्मिन् काले इति एतर्हि। यह अव्ययवाचक शब्द है। यहाँ पर इदम् शब्द से "इदमो र्हिल्" ५।३।१६ से र्हिल् प्रत्यय हो गया। इसका अर्थ है कि कालावचक सप्तम्यन्त इदम् शब्द से र्हिल् प्रत्यय होता है। प्रत्यय होने के अनन्तर इदम्+र्हिल् इस दशा में 'एतेतौ रथोः' ५।३।१६ से इदम् के स्थान पर एक आदेश हो गया। इसका अर्थ है कि इदम् को एत और इत आदेश हों रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय रहने पर। इस नियम के अनुसार एतर्हि शब्द बनता है "एतर्हि संप्रतीदानीमधुना सांप्रतम् तथा" इत्यमरः॥

मनस्विगर्हिते—प्रशस्तं मनः अस्ति एषाम् इति मनस्विनस्तैः मनस्विभिः गर्हितं मनस्विगर्हितं तस्मिन मनस्विगर्हिते। असन्त मनस् शब्द से "अस्मायामेधास्रजो विनिः" ५।२।१२१ से विनि प्रत्यय होकर मनस्विन् सिद्ध होता है। गर्ह् निन्दायाम् धातु से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'नपुंसके भावे क्तः' ३।३।१४ से क्त प्रत्यय होकर गर्हित रूप सिद्ध होता है। भाव में जब क्त प्रत्यय होता है तो वह नपुंसक लिंग में ही होता है अतः 'गर्हितम्' यह रूप होगा।

वर्त्मनि—वर्तते अत्र, वर्तन्ते अनेन, अस्मिन् वा वर्त्म। वृतु वर्तने धातु से उणादि सूत्र 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' से प्रत्यय होकर वर्त्मन् सिद्ध होता है। यह नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है। वर्त्मनि सप्तम्यन्त एकवचन है। कोश के अनुसार "अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः" इत्यमरः॥

विवर्तमानम्—विवर्तते इति विवर्तमानः तम् विवर्तमानम्। वि+वृत्+शानच प्रत्यय होकर विवर्तमान बनता है।

भवन्तम्—भा+डवतु। द्वितीया एकवचन भवन्तम्।

उदीरितः—उद्+ईर्+णिच्+क्त (कर्त्ता में) उदीरितः। यहाँ पर उद् उपसर्ग पूर्वक ईर् गतौ कम्पने च धातु है। इस अवस्था में कर्त्ता में 'निष्ठा" ३।२।१०२ सूत्र से क्त प्रत्यय होकर उदीरितः सिद्ध होता है। यह प्रेरणा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके लिये कोश में ईरित शब्द का प्रयोग है। विशिष्टार्थ के लिये उपसर्ग लगाकर अनेक अर्थ कर लेते हैं।

मन्युः—मन् धातु से उणादि सूत्र 'मनिजनिदसिभ्यो युः' से यु प्रत्यय होकर मन्यु सिद्ध होता है। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः।

शुष्कम्—शुष्+क्त=शुष्कम्। शुष् धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'शुषः कः' ८।२।५१ से 'त' के स्थान पर 'क' हो जाता है। सूत्र का अर्थ है शुष् धातु के बाद जो निष्ठा का तकार उसे 'क' हो जाता है।

शमीतरुम् शमी चासौ तरुश्च शमीयतरुः तम्, शम्याः तरुः शमीतरुः तम् शमीतरुम्, शमीनामा तरुः शमीतरुः तम् शमीतरुम् (शाकपार्थिवादीनां च समासः उत्तरपदलोपश्च)।

उच्छिखः—उद्गता शिखा यस्य असौ उच्छिखः। उत् उपसर्ग पूर्वक शीङ् स्वप्ने धातु से उणादि सूत्र 'शीङो ह्रस्वश्च' से शी को ह्रस्व 'इ' तथा 'ख' प्रत्यय शिखः। उत्+शिख 'शश्छोऽटि' से श को छ' उच्छिखः।

अग्निः—अङ्गति इति अग्निः। अगि गतौ धातु से उणादि सूत्र 'अङ्गेर्नलोपश्च' से 'नि' प्रत्यय तथा न का लोप होकर अग्नि होता है अथवा अत्ति इति अग्नि अद् धातु से 'नि' होकर अग्नि होता है। "अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः" इत्यमरः।

ज्वलयति—ज्वल्+णिच्+लट्—तिप्=ज्वलयति। ज्वल् धातु का घटादिगण में पाठ है। घटादिगण का तात्पर्य है श्रीभट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में सभी धातुओं को वर्गानुसार गणों में पाठ किया है। जिस गण में जो धातु पहले होती है उसे उसी गण के नाम से पुकारते हैं और जो भी कार्य उस प्रारम्भिक धातु में होते हैं प्रायः वे सभी कार्य उस गण की सभी धातुओं में होते हैं। घटादिगण की धातुयें मित्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानी जाती हैं अतः "ज्वलह्वलनमामनुपसर्गाद्वा" सूत्र से वैकल्पिक मित्त्व होकर "मितां ह्रस्वः" से ह्रस्व हो जाता है तब ज्वलयति यह रूप बनता है। ह्रस्व विकल्प से होता है, अतः 'ज्वालयति' यह भी रूप सिद्ध होता है। यदि घटादिगणीय धातुओं के पूर्व कोई उपसर्ग लग जाता है तो यह ह्रस्व वैकल्पिक नहीं अपितु नित्य होता है। कौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि 'उपसृष्टेषु नित्यं मित्त्वम्'। अतः प्रज्वलयति यही रूप सिद्ध होगा।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—उपमा—शुष्कं शमीतरुं उच्छिखः अग्निरिव इस अंश में उपमा अलंकार है।

विशेष—द्रोपदी राजा युधिष्ठिर से कहती है' हे राजन्! आप इस समय उसी मार्ग पर चल रहे हैं जिस मार्ग की निन्दा सदैव मनस्वियों ने की है और इसे यदि आप जानते हों कि इस मार्ग पर चलने से सिद्धि मिल सकती है तो यह विचार नितान्त भ्रामक है। इस निन्दित मार्ग पर चलने का कारण यही है कि शत्रुओं ने कपटपूर्वक तुम्हें पराजित करके विजय प्राप्त कर ली है। शमीवृक्ष के समान आपका शरीर स्वच्छ और पवित्र है। शमीतरु भी अपने भीतर अग्नि रखने के पवित्र माना जाता है आपके अन्दर भी शत्रुकृत अपमान से उत्पन्न क्रोध रूपी अग्नि है। जिस प्रकार सूखे शमीतरु में अग्नि शीघ्र लग जाती है उसी प्रकार शत्रु-अपमान से दुःखी अतएव सूखे शरीर में क्रोध की ज्वाला क्यों नहीं भड़क उठती। आप इस बात को सत्य समझें कि जैसे शमीतरु की अग्नि ही सम्पूर्ण वन को नष्ट करने में समर्थ होती है ठीक उसी प्रकार आपकी क्रोधाग्नि सम्पूर्ण शत्रु-समूह को रुई के ढेर के समान जलाकर भस्म कर देगी। अतः अपने अपमान का बदला लेने हेतु उठिये। यही पूर्वजों का भी आदेश है। क्षण मात्र जलना ठीक है परन्तु भूसी की अग्नि में तिल तिल कर जलना ठीक नहीं ॥३२॥

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अन्वय—अवन्ध्यकोपस्य, आपदां, विहन्तुः, देहिनः, स्वयम्, एव, वश्याः, भवन्ति, अमर्षशून्येन, जन्तुना, जातहार्देन (सता) जनस्य, आदरः न (भवति) वा, विद्विषा, (सता) दरः, न (भवति) ॥

वाच्यान्तरम्—अवन्ध्यकोपस्य, आपदां विहन्तुः, स्वयमेव देहिभिर्वश्यैर्भूयते। अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन सताऽऽदरेण न भूयते न च दरेण भूयते।

अवन्ध्येति। अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्यात एवापदां विहन्तुः, निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः। पुंस इति शेषः। देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशङ्गता भवन्ति। 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः। अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः। व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—अमर्षशून्येन निःकोपेन जन्तुना। अन्यथा शोक इतिवत् 'हेतौ' इति तृतीया। हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः। प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेह' इत्यमरः। युवा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दित्वादण् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न विद्विषा द्विषता दरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्या-वित्यर्थः । अथवा विद्विषा सता दरो भयन्न । 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः । एत-स्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेदः । पुंवाक्येषु न दोषः । अतः स्थाने कोपः कार्यः, त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः ॥

अर्थ—जिन मनुष्यों को क्रोध कभी व्यर्थ नहीं जाता तथा जो आपत्तियों को नष्ट करने वाले होते हैं ऐसे मनुष्यों के वश में सभी प्राणी स्वयम् आ जाते हैं, परन्तु जिनकी प्रसन्नता से न लाभ होता है और अप्रसन्न होने से न कुछ हानि ही होती है तथा जिसे क्रोध के स्थान में भी क्रोध नहीं होता ऐसे मनुष्यों से न तो शत्रु ही डरते हैं और न मित्र लोग आदर ही करते हैं ।

व्याख्या—अवन्ध्यकोपस्य=अव्यर्थक्रोधस्य (जिसका क्रोध कभी व्यर्थ नहीं जाता ऐसे के) आपदाम्=कष्टानाम् (कष्टों तथा विपत्तियों के) विहन्तुः=विनाशकस्य (नाश करने वाले) देहिनः=प्राणिनः (शरीर धारण करने वाले) स्वयमेव=स्वतः एव (अपने आप ही) वश्याः=अधीनाः (अधीन) भवन्ति=जायन्ते (हो जाते हैं) अमर्ष-शून्येन=कोपशून्येन (क्रोधरहित) जन्तुना=जनेन (मनुष्यों के द्वारा) जातहार्देन= प्रेमयुक्तेन (प्रेमयुक्त होने से) जनस्य=मानवस्य (मनुष्य का) आदरः=सम्मानः (सम्मान) विद्विषा=शत्रुणा (शत्रु के द्वारा) दरो न भयं न (भय नहीं होता है) ॥३३॥

व्याकरणम्—अवन्ध्यकोपस्य—बन्धुं योग्यः इति बन्ध्यः बन्धनं बन्धः तस्मिन् साधुः इति वन्ध्यः, न वन्ध्यः अवन्ध्यः कोपो यस्यासौ अबन्ध्यकोपः तस्य अवन्ध्यकोपस्य । वन्ध्यः कोपो यस्यासौ वन्ध्यकोपः न बन्ध्यकोपः अबन्ध्यकोपः तस्य इति अबन्ध्यको-पस्येति वा । बन्ध् धातु से कर्म में ण्यत् होकर बन्ध्य होता है । बन्ध् से यत् प्रत्यय होकर भी वन्ध्यः सिद्ध होता है । कुप्+धातु से घञ् प्रत्यय होकर कोपः सिद्ध होता है । वन्ध्य—में यत् प्रत्यय 'तत्र साधुः' ४।४।९८ से होता है । 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । कोपः में ३।३।१८ सूत्र से भाव में घञ् प्रत्यय होता है । "कोपक्रोधामर्षरोष-प्रतिघारुट्क्रुधौ स्त्रियाम्" इत्यमरः ।

आपदाम्—आ+पूर्वक पद् धातु से 'सम्प्रदादिभ्यः क्विप्' ३।३।१०८ वार्तिक से क्विप् प्रत्यय होकर अपाद् सिद्ध होता है यह षष्ठी का बहुवचन है । अपाद् के लिये ३ शब्द प्रयुक्त होते हैं "विपत्तौ विपदापदौ" इत्यमरः । आ+पद् से क्तिन् प्रत्यय भी होता है । उससे आपत्तिः रूप सिद्ध होता है ।

विहन्तुः—वि+उपसर्ग पूर्वक हन् धातु से कर्त्ता में तृच् प्रत्यय होने पर विहन्ता सिद्ध होता है । षष्ठी के एकवचन में विहन्तुः बनेगा ।

देहिनः देहः अस्ति इति देही तस्य देहिनः । दिह् उपचये धातु से दिह्यते इति इस अर्थ में ३।३।१९ सूत्र से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है । तब देह यह रूप सिद्ध होता है । देह से जब 'अत इनिठनौ' ५।२।११५ से इनि प्रत्यय कर दिया जाता है तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देही, षष्ठी एकवचन में देहिनः सिद्ध होता है। कोष में "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तु-जन्युशरीरिणः" इत्यमरः।

वश्याः—वशं गताः इति वश्याः। वश् धातु से 'वशं गतः' ४।४।८६ सूत्र से यत् प्रत्यय होकर बहुवचन में वश्याः होता है "वश्यः प्रणयः" इत्यमरः।

अमर्षशून्येन—न मर्षः अमर्षः अमर्षेण शून्यः अमर्षशून्यः तेन अमर्षशून्येन। मृष् तितिक्षायां धातु से भाव में ३।३।१८ सूत्र से घञ् प्रत्यय होकर मर्षः सिद्ध होता है। मर्षः का अर्थ है सहनशीलता। नञ् समास होने पर इसका अर्थ होगा न मर्षः अमर्षः अर्थात् सहन करने में सर्वथा असमर्थ अर्थात् क्रोध। कोष पूर्व में अङ्कित है।

जन्तुना—जायते इति जन्तुः। जन् धातु उणादि सूत्र "कमिगमिजनिगाभाया-हिभ्यश्च" से तुन् प्रत्यय होने पर जन्तुः। तृतीया एकवचन में जन्तुना होता है।

जातहार्देन—हृदयस्य कर्म हार्दं, जातं हार्दं यस्यासौ जातहार्दः तेन जातहार्देन। हृदयस्य कर्म इस अर्थ में ५।१।१३० से अण् प्रत्यय होने पर 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्ला-सेषु ६।३।५० से हृदय के स्थान पर हृद् भाव निपातन हो गया तब वृद्धि होकर हार्दम् सिद्ध होता है। कोश के अनुसार पाँच शब्द स्नेह के वाचक हैं। "प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः" इत्यमरः।

आदर—आ+पूर्वक दृ धातु से 'ऋदोरप्' ३।३।५७ से अप् प्रत्यय होकर आदरः सिद्ध होता है।

विदुषा—वि+उपसर्ग द्विष् अप्रीतौ धातु से "द्विषोऽमित्रे" ३।२।१३१ से शतृ प्रत्यय हो विद्विषन् बनता है। तृतीया के एकवचन में विद्विषा सिद्ध होगा। "रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः" इत्यमरः।

दरः—दरणं दरः, दीर्यते अस्मात् इति दरः। दृ भये या दृ विदारणे धातु से 'ऋदोरप्' ३।३।५७ सूत्र से अप् प्रत्यय होकर दरः सिद्ध होता है। दर का प्रयोग भय तथा गड्ढे के लिये भी किया जाता है जैसे किसी हेमाचार्य ने कहा है कि "दरः स्यात् भयगर्तयोः" वस्तुतः भय के लिये ही यहाँ पर दर का प्रयोग हुआ है "दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्। "दरोऽस्त्रियां भयं श्वभ्रे" इत्यमरः। मेदिनीकोशकार का भी यही कथन है कि "दरोऽस्त्री साध्वसे गर्ते कन्दरे तु दरी स्मृता। दराव्ययं मनागर्थे" इति मेदिनीकोशः॥

यहाँ पर विद्विषा दरः को दो प्रकार से पढ़ना चाहिए आदरः, दरः न जिसके कारण आदरः का सम्बन्ध जातहार्देन के साथ होगा और दर का संबन्ध विद्विषा के साथ होगा। तब अर्थ होगा जातहार्देन सता आदरो न, विद्विषा सपा दरो न। यदि इसे विद्विषा के साथ लेते हैं तो अर्थ होता है 'विद्विषा सता आदरो न' अर्थात् शत्रु होने के कारण आदर नहीं किया जाता अपितु उपेक्षा की जाती है। इन दोनों के सम्बन्ध में ही प्रसिद्ध टीकाकार महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने स्पष्ट लिख दिया है कि "एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशात् द्विधा पदच्छेदः। पुंवाक्येषु न दोषः"।

छन्द—वंशस्थ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलंकार—अनुप्रास। दूसरी पंक्ति में 'जातहार्देन जनस्य जन्तुना' में यह अलङ्कार है। "अनुप्रासः वर्णसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्" जहाँ एक प्रकार के वर्णों की साम्यता स्वर की विषमता होने पर भी होती है वहाँ अनुप्रास होता है।

विशेष—द्रोपदी युधिष्ठिर की सहनशीलता और क्रोधशून्यता को उत्तेजित करती हुई कहती है कि यद्यपि क्रोध का परित्याग करना ठीक है परन्तु इसके लिए अनुकूल अवसर चाहिए। क्रोध का सर्वथा परित्याग करना राजाओं को शोभा नहीं देता और क्रोध अवन्ध्य होना चाहिए क्योंकि जिसके रुष्ट होने से कोई भय नहीं होता तुष्ट होने पर कोई लाभ नहीं होता ऐसे लोगों की जनसमुदाय सदा उपेक्षा करता रहता है। इस समय दुर्योधन राजा है वह सबको अपने अनुकूल करने के लिए क्रोध के स्थान पर भी हर्ष करता है जिसके कारण जो उसके अधीन नहीं हैं वे भी वश में हो जाते हैं और आप क्रोध और हर्ष दोनों का परित्याग करके शान्तचित्त होकर बैठे हैं। यदि क्रोध भी होता है तो वह क्षणमात्र में फलरहित होकर विलीन हो जाता है। परिणाम यह होता है कि पूर्व समय में जो आपके वश में थे वे भी अब स्वतन्त्र होते जा रहे हैं। शान्त पुरुष की क्षमाशीलता का लोभ दुरुपयोग करने लगते हैं। अतः आपको उचित है कि अपने कुल की मर्यादा को स्वीकार करते हुए उचित अवसर पर क्रोध करें और आपके क्रोध करने का यही उपयुक्त अवसर है। इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सत्य नियम है कि जिनके क्रोधित होने से हानि की तथा प्रसन्न होने से लाभ की आशा रहती है जगत में उन्हीं का आदर होता है ॥३३॥

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥३४॥

अन्वय—लोहितचन्दनोचितः, महारथः, अयं, वृकोदरः रेणुरूषितः पदातिः, (सन्) अन्तर्गिरि, परिभ्रमन्, सत्यधनस्य (तव), कच्चित् नो दुनोति॥

वाच्यान्तरम्—लोहितचन्दनोचितेन महारथेन, पदातिना रेणुरूषितेन अन्तर्गिरि परिभ्रमता अनेन वृकोदरेण सत्यधनस्य तव मानसं कच्चित् नो दूयते।

परिभ्रमन्निति। लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दनः। 'वाहिताग्न्यादिषु' इति साधुः अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। महारथी रथचारी! उभयत्रापि प्रागिति शेषः। अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः। पदाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी 'अज्यतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इन्प्रत्ययः। 'पादस्य पादज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः। अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्समासान्तभावः। परिभ्रमन्नयं वृकोदरो भीमः। सत्यधनस्येति सोल्लुण्ठनवचनम्। अद्यापित्वया सत्यमेव रक्ष्यते, न तु भ्रातर इति भावः। तवेति शेषः। मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति 'कच्चित्काम-प्रवेदने' इत्यमरः। स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम्॥

अर्थ—जो महारथी भीमसेन पहले लाल चन्दन को शरीर पर लगाकर उत्तम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रथ आदि सवारियों पर चलते थे वही अब धूल-धूसरित होकर पैदल ही पर्वत पर भटका करते हैं क्या इस प्रकार भटकते हुए भीमसेन आप सत्यधनी के मन को पीड़ित नहीं करते ॥

व्याख्या—लोहितचन्दनोचितः—रक्तचन्दनचर्चितः (लाल चन्दन से लिप्त शरीर वाले) महारथः=अतिरथः (महारथी, रथ पर चलने वाले) अयम्=पुरः स्थित (यह सम्मुख उपस्थित) वृकोदरः=भीमः (वृक के समान जठराग्नि वाले) रेणुरूषितः =धूलिधूसरितः (धूलि से लिप्त शरीर वा) पदातिः=पादचारी (पैरों से चलने वाले) अन्तर्गिरि=दुर्गमपर्वतेषु (कठोर पर्वतों के प्रान्त में) परिभ्रमन्=इतस्ततः पर्यटन् (इधर-उधर मृगया के लिए घूमते हुए) सत्यधनस्य=सत्यैकपरायणस्य (एकमात्र सत्य का ही पालन करने वाले आपके) मानसम्=मनः (मन को) नो=नहि (नहीं) दुनोति =परितापयति (पीड़ित करता है ?) ॥३४॥

व्याकरणम्—लोहितचन्दनोचितः—चन्दयति आह्लादयति इति चन्दनम्, लोहितञ्च चन्दनं लोहितचन्दनं, लोहितचन्दनेन उचितः इति लोहितचन्दोनोचितः अथवा लोहितचन्दनस्य उचितः (योग्यः) लोहितचन्दनोचितः। लोहितम्—रुह् धातु से उणादि सूत्र "रुहेरश्च लो वा" से 'रु' के स्थान पर लो आदेश तथा इतन् प्रत्यय होकर लोहित सिद्ध होता है। यह अनेकार्थ है "लोहितं कुंकुमे रक्ते ऋजुशकशराननने। पुंसि स्यान्मी-नमृगयोर्देशेहितकद्रुमे"। "लोहितं रक्तगोशीर्षकुंकुमाजिकुचन्दने। पुमान् नदान्तरे भौमे वर्णे च त्रिषु तद्वति" इति मेदिनीकोशः। उसको हेमचन्द्राचार्य ने तो और कहा है कि "लोहितो मङ्गले नदे। वर्णभेदे लोहितं तु कुंकुमे रक्तचन्दने। गोशीर्षे रुधिरे युद्धे" इति हैमः। चदि आह्लादे धातु से ण्यन्त में भावे ल्युट् प्रत्यय सूत्र ३।३।११३ से और "इदितोनुम् धातोः" ७।१।५८ से नुम् आगम होकर चन्दनम् रूप सिद्ध होता है। "गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। "पाटीरश्चन्दनोऽस्त्री च गन्धसारेऽपि च"।

उच् से क्त प्रत्यय उचितम्। यहाँ पर उचितं लोहितं च तत् चन्दनं, उचित-लोहितचन्दनम् तत् अस्य असौ लोहितचन्दनोचितः समास हो सकता है और उचित-लोहितचन्दनः यह भी हो सकता है क्योंकि "वाहिताग्न्यादिषु" २।२।३७ से निष्ठान्त शब्दों का पूर्व निपात विकल्प से होता है अतः एक बार 'उचितम्' का पूर्व में पाठ होगा दूसरी बार बाद को पाठ होगा इस प्रकार दोनों समस्त रूप सिद्ध होंगे। याद-वाचार्य के मत से उचितम्' का अर्थ अभ्यास भी होता है "अभ्यस्तेऽप्युचिते न्याय्यम्" इस प्रकार इसका अर्थ होगा "रक्तचन्दन लगाने के अभ्यस्त" ॥

महारथः—महान् रथो यस्य सः महारथः। महत्+रथः यहाँ बहुव्रीहि समास है वैसे महांश्चासौ रथः महारथः कर्मधारय समास में भी होता है। बहुव्रीहि और कर्मधारय समास में समानाधिकरण शब्द अथवा जातीयर् प्रत्यय परे रहने पर महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो जाता है। नियम "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६ से महत् को 'आ' अन्तादेश होकर महा+रथ=महारथः सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्वानों ने महारथः उसकी संज्ञा दी है जो दश हजार धनुर्धारी योद्धाओं से अकेले ही युद्ध करने की सामर्थ्य रखता हो और शस्त्र विद्या में वह पारंगत हो उसे महारथी कहते हैं "एकादश सहस्राणि योधयेत् येस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणत्च स महारथ उच्यते ।।" इति नीतिः ।।

रेणुरूषितः—रेणुभी रूषितः रेणुरूषितः । रुष्+क्त प्रत्यय होकर रूषितः होता है । रेणु के लिए कोश में "रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः" इत्यमरः । रिणाति रीयते इति रेणुः उणादि सूत्र "अजिवृरीभ्यो निच्च" से 'री' धातु से 'युः' प्रत्यय होकर रेणुः सिद्ध होता है । "रेणुः स्त्री पुंसयोर्धूलौ पुंलिंगं स्मर्यते पुनः" इति विश्वमेदिनी । "गुण्डितरूषिते" यह दो शब्द धूलिलिप्त के लिए प्रत्युक्त होते हैं । रुषि धातु का अर्थ वेष्टन भी होता है ।

वृकोदरः—वृकस्य उदरमिव उदरम् यस्य सः वृकोदरः, अथवा वृकनामा अग्निः उदरे यस्यासौ उदरः । पहले षष्ठी तत्पुरुष गर्भित बहुव्रीहि समास 'सप्तम्युपमानपूर्वस्तोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः" से बहुव्रीहि समास होता है । दूसरे में शुद्ध बहुव्रीहि समास हुआ है—"कोक ईहामृगो वृकः" इत्यमरः । उदरम् शब्द की सिद्धि अनेक प्रकार से होती है । इसके लिए ऋ धातु से पूर्व उद् उपसर्ग लगाया जाता है । जैसे ऋ गतौ धातु उद् ऋणाति इस अर्थ में 'पचादिभ्योऽच्' ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होकर उदरम् बना अथवा उद् ऋच्छति, उद् इयर्ति वा इस अर्थ में भी उपर्युक्त ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होता है । अथवा दॄ विदारणे धातु से उद् दृणाति इस अर्थ में उणादि सूत्र 'उदिदृणातेरजलौ, पूर्वपदान्त्यलोपश्च' से अच् प्रत्यय तथा उद् के अन्त का लोप हो जाता है । "उदरं तुन्दरणयोः" इति हैमः । पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्" इत्यमरकोशवचनम् ।।

पदातिः—पादाभ्यामतति गच्छति इति पदातिः । पाद पूर्वक अत् धातु से उणादि सूत्र 'पादे च' से पाद उपपद रहने पर 'अतिअतिभ्यां च' से इण् प्रत्यय होता है तथा "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" ६।३।५२ से पाद के स्थान पर पद आदेश होकर 'पदाति' सिद्ध होता है । मुकुटाचार्य ने 'इञजादिभ्यः' वार्तिक ३।३।१०८ से इञ् प्रत्यय का विधान किया है परन्तु वह युक्त नहीं । "पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः" इत्यमरः ।

अन्तर्गिरि—गिरिषु अन्तः इति अन्तर्गिरि, अथवा गिरिषु इति अन्तर्गिरि । गिरिषु इत्यर्थे अन्तर्गिरि अव्ययीभाव समास । यहाँ अव्ययीभाव समास होने पर "गिरेश्च सेनकस्य" सूत्र से अच् प्रत्यय होकर अन्तर्गिरम्, तथा अन्तर्गिरि दो रूप सिद्ध होते हैं । सूत्र का अर्थ है कि सेवक आचार्य के मत से गिरि में समासान्त अच् प्रत्यय विकल्प से होता है । श्रीमल्लिनाथ ने गिरिषु अन्तः यह समास किया है । यद्यपि गिरिषु के साथ अन्तः पद की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । यह शब्द अन्तर और गिरि से बना है और साप्तम्यर्थे में अन्तर् के साथ अव्ययीभाव समास होता है । यह सब होते हुए भी गिरिषु के साथ अन्तर् शब्द का उल्लेख स्पष्टावभासन के लिए है । यह कहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियम नहीं है कि गिरिषु अन्तः समास कर देने पर समास अशुद्ध हो जायगा और व्याकरण शास्त्र के नियमानुकूल नहीं होगा। स्पष्ट बोध के लिये इस प्रकार समास कर ही दिया जाता है।

परिभ्रमन् परि उपसर्ग पूर्वक भ्रम् धातु से वर्तमान अर्थ में शतृ प्रत्यय होकर परिभ्रमन् सिद्ध होता है। यह वृकोदरः का विशेषण है।

सत्यधनस्य—सत्यम् एव धनं यस्य सः सत्यधनः तस्य सत्यधनस्य। बहुव्रीहि-समासे सति साधु सत्यम् तत्र साधुः' ४।४।९८ से यत् प्रत्यय होकर सत्यं बना। "सत्यं कृते च शपथे तथ्ये च त्रिषु तद्वति" इति मेदिनीकारः। "सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्" 'सत्यं शपयतथ्ययोः" इत्यमरः। धनति इति धनम् धन् धान्ये धातु से "पचादिभ्योऽच्" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होकर धनं बना। "धनं तु गोधने वित्ते" इति विश्वमेदिन्यौ। 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु। हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि' इत्यमरः॥

मानसम् मनः एव मानसम् तत् मानसम्। मन्यते अनेन इस अर्थ में उणादि सूत्र सर्वधातुभ्योऽसुन् से असुन् प्रत्यय होकर मनस् सिद्ध होता है। मनम् सिद्ध होने के अनन्तर "प्रज्ञादिभ्योऽण्" ५।४।३८ से अण् प्रत्यय होकर मानसम् होता है जहाँ यह अण् प्रत्यय नहीं होता वहाँ पर 'मनः' यही रूप रहता है। "मानसं स्वान्तसरसोः" "मनश्चित्ते मनीषायाम्"। चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानस मनः" इत्यमरः। कुछ विद्वान् मनस् शब्द को "अर्धर्चाः पुंसि च" ३।४।३१ के अन्तर्गत मानकर पुंलिंग मानते हैं और इसको 'मनाः' सिद्ध करते हैं।

कच्चित्—कत् चित् कच्चित्। कच्चित् का अर्थ कोश के अनुसार कामप्रवेदन होता है "कच्चित् कामप्रवेदने" इत्यमरः। कामप्रवेदन का अर्थ होता है इष्ट प्रकाशन अर्थात् अपने अभिप्राय को स्पष्ट रूप से न कहकर भी स्पष्टतया अवबोधित करा देना जैसे यहाँ पर वृकोदरः मानसं न दुनोति (अर्थात् वृकोदर मन को दुखी नहीं करता है) इससे यह ध्वनि निकलती है कि वृकोदर की इस वर्तमानावस्था से आपका मन अवश्य दुखी होता है।

नो—निषेधार्थक अव्यय शब्द है। जो तीनों लिंग में समान रहते हैं और सभी विभक्तियों में समान रहते हैं और जो सभी वचनों में समान रहते हैं उन्हें अव्यय कहा जाता है। "सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥"

दुनोति—दु धातु से लट्लकार वर्तमानकाल में स्वादिगणी होने से 'स्वादिभ्यः श्नु;' ३।१।७३ से श्नु प्रत्यय होकर दुनोति रूप सिद्ध होता है। दु धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर दूनः रूप सिद्ध होगा।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—परिकरालङ्कार "विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः" जहाँ पर अभिप्राययुक्त विशेषणों द्वारा अपनी वार्ता को कहा जाता है वहाँ परिकरालङ्कार होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। यहाँ पर द्रोपदी इसी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करती हुई राजा युधिष्ठिर से अपनी बात व्यक्त कर रही है। यह पद्य गुणीभूत व्यंग्य का सुन्दर उदाहरण है। काव्यप्रकारशकार मम्मट ने काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद बताये हैं। इनमें उत्तम काव्य को ध्वनिकाव्य और मध्यम काव्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी न होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है— "अताहृशि गुणीभूतव्यंग्ये तु माध्यम" का० प्र०॥ इस पद्य में द्रोपदी ने राजा युधिष्ठिर के सत्यप्रतिज्ञत्व की ओर व्यंग्य किया है। व्यंग्य यह है कि तुम अपनी सत्य की प्रतिज्ञा को पूरी करते रहो चाहे भाई अनेकों कष्टों को भोगते रहें।

विशेष—इस श्लोक में द्रोपदी युधिष्ठिर के मर्मस्थल पर प्रहार करती हुई कहती है कि तुम्हें तो अपनी सत्य प्रतिज्ञा के अनुसार और उस सत्य प्रतीज्ञा के अनुसार जो जुये में हार जाने के कारण की गई—बारह वर्ष वनवास के अतिरिक्त एक वर्ष तक अज्ञात वनवास करना है। द्रोपदी का व्यंग्य है कि तुम अपने सहोदर भाई भीम की दुर्दशा को देखकर भी दुखी नहीं हो सकते क्योंकि तुम्हें प्रतिज्ञा की रक्षा करनी है। अतः यदि आप उसकी दशा को देखकर दया से व्याकुल हो उठोगे तो आपकी प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। अतः प्रतिज्ञा की पूरी तरह से रक्षा करने के लिये अपने सहोदर भाई के साथ ही सम्पूर्ण परिवार की उपेक्षा कर रहे हो। जिस सत्यनिष्ठा के कारण आपका सम्पूर्ण परिवार दुःख का भोग करे ऐसी आपकी सत्यनिष्ठा परम धन्य है। सत्यवादी राजा युधिष्ठिर के लिये उन्हीं के समक्ष उनकी सत्यनिष्ठा को चुनौती देना उनके मर्मस्थल पर चोट करने के अतिरिक्त और क्या है॥ ३४॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥३५॥

अन्वय—वासवोपमः, सः, (अर्जुनः) उत्तरान् कुरून् विजित्य, प्राज्यम्, अकुप्यं, वसु, अयच्छत्। सः धनञ्जयः, अधुना, वल्कवासांसि आहरन् तव, मन्यु, कथं, न, करोति॥

वाच्यान्तरम्—वासवोपमेन येन उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् कुप्यं वसु अदीयत। तेन धनञ्जयेन अधुना वल्कवासांसि आहरता तव मन्युः कथं न क्रियते॥

विजित्येति। वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो यो धनञ्जयः। उत्तरान् कुरून्मेरोरुत्तरान्मानुपान्देशषान्विजित्य प्राज्यं प्रभूतम् 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः। कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकम्। 'स्यात्कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्ये कृताकृते। ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः। वसु धनम् अयच्छद् दत्तवान्। 'पाघ्रा'— इत्यादिना दाणो यच्छादेशः। स धनं जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः 'सञ्ज्ञायां भृतॄ वृजि' इत्यादिना खच्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषत्'—इत्यादिना मुमागमः। अधुनाऽस्मिन् काले। 'आधुना' इति निपातनात्साधुः। तव वल्कवासांस्याहरन् कथं मन्यु क्रोधं दुःखं वा न करोति॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थ—इन्द्र के समान पराक्रम वाले जिस अर्जुन ने उत्तरी कुरु को जीत कर अतुल सोना, चाँदी, रूप, धन आपको दिया था, वही अर्जुन इस समय आपके लिए वन्य वृक्षों की छाल को वस्त्र रूप में देता है। क्या यह सब आपके क्रोध को उत्तेजित नहीं करते ॥

व्याख्या—वासवोपमः=इन्द्रतुल्यः (इन्द्र के समान) यः=अर्जुनः (जो अर्जुन) उत्तरान् कुरून्=उत्तरकुरुनामकान् (मेरु पर्वत के निकटवर्ती धनधान्य से पूर्ण देशों को) विजित्य=स्वायत्तीकृत्य (अपने अधीन करके) प्राज्यम्=प्रचुरम् बहुलम् (बहुत अधिक) अकुप्यम्=कुप्यभिन्नम् सुवर्णरजतादिकम् (कुप्य से भिन्न सोना, चाँदी, रूप) वसु=धनम् (धन को) अयच्छत्=दत्तवान् (दिया) सः=अर्जुनः (वही अर्जुन) धनञ्जयः=अर्जुनः (धन को जीतने वाला) अधुना=सम्प्रति, इदानीम् (इस समय, आजकल) तव=भवतः, युधिष्ठिरस्य (आप युधिष्ठिर के लिये) वल्कवासांसि=वृक्षवल्कलवस्त्राणि (वृक्ष की छाल के बने हुये वस्त्रों को) आहरन=आनयन्, धारयन् वा (लाता हुआ अथवा धारण करता हुआ) तव=भवतः (आप युधिष्ठिर के) मन्युम् =क्रोधम् (क्रोध को) कथम्=कस्मात् (किस कारण) न करोति=नोत्पादयति (नहीं उत्पन्न करता है) ॥३५॥

व्याकरणम्—वासवोपमाः—वसन्ति अत्र वासः, दैत्यानां वासं वाति इति वासवः वस् धातु से घञ् प्रत्यय वासः वासपूर्वक 'वा' धातु से 'आतश्चोपसर्गे कः' ३।२।३ से क प्रत्यय आकार का लोप वासवः। वसोरपत्यम् इति वासवः अथवा वसवो देवा वसूनि रत्नानि अस्य वा सन्ति वासवः "ज्योत्स्नादित्वात्" ५।२।१०२ वार्तिक से अण् प्रत्यय होकर वासवः बनाः। "सुत्रामागोत्रभिद् वज्री वासवो वृत्रहा वृषा" इत्यमरः।

धनञ्जयः—धनम् जयति इति धनञ्जयः। धन उपपद पूर्वक जि धातु से संज्ञायां। भृतृवृजिधारिसहितपिदमः' ३।२।४६ से नाम सूचित करने के अर्थ में प्रथम जि धातु से 'खच्'। उसके पश्चात् "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" ६।३।६७ से खच् प्रत्ययान्त जय शब्द के उत्तर में रहने के कारण धन तथा जन के बीच में 'मुम्' हो गया। धनञ्जय शब्द का प्रयोग कोश के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। जैसे— "धनञ्जयः सर्पभेदे ककुभे देहमारुते। पार्थेऽग्नौ"। [illegible] ानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः" इत्यमरः। इस कोश वचन के अनुसार धनञ्जयः का अर्थ यहाँ पर अग्नि के समान तेजस्वी भी हो सकता है।

विजित्य—वि+जि+क्त्वा प्रत्यय वि+जित्वा परन्तु यदि क्त्वा प्रत्यय के पूर्व कोई उपपद होता है तो वहाँ पर क्त्वा को ल्यप् "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्"। ७।१।३७ से हो जाता है तो विजि+य यहाँ पर "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" ६।१।७१ से 'य' के पहले तुक् होकर विजित्य सिद्ध होता है ॥

प्राज्यम्—प्राजीयते इति प्राज्यम्। प्र+अज्+ण्यत् 'ऋहलोर्ण्यत्' ३।१।१२४ से ण्यत् होकर प्राज्यम् अथवा प्रकर्षेणाज्यते काम्यते इति प्राज्यम्। प्र+आ+अज्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धातु से "अञ्जेः संज्ञायाम्" ३।१।१०९ से क्यप् प्रत्यय होकर प्राज्यम्। "प्रभूतं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु" इत्यमरः॥ यह 'वसु' का विशेषण है।

अकुप्यम्—गुप्तये रक्ष्यते इति कुप्यम् यहाँ पर सूत्र "राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्य" ३।१।१४ से क्यप् प्रत्यय होकर तथा निपातनात् ग को क होकर कुप्यम् यह रूप होता है यदि यह प्रयोग सुवर्णरजतादि से भिन्न के लिए होता है तो कुप्य प्रयुक्त किया जाता है अन्यथा 'गोप्यम्' यही प्रयोग होता है। यहाँ पर सुवर्णरजत के लिए प्रयुक्त हुआ है अतः नञ् समास होकर न कुप्यम् अकुप्यम् अर्थात् सोना चाँदी आदि रूप धन। कोश भी यही कहता है कि "स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते। ताभ्यां तदन्यत्तत् कुप्यम्" इत्यमरः।

वसु—वसति सर्वत्र यत् तत् वसु, उष्यते वा अस्मिन् गुणैः इति वसु 'वस् निवासे' धातु "श्र-स्वृ-स्निहि-त्रप्यसि-वसि-हनि-क्लिदि-बन्धि-मनिभ्यश्च" इस उणादि सूत्र से 'उ' प्रत्यय 'वसु'। "द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः। इसके अतिरिक्त वसु शब्द का प्रयोग और भी अन्य अर्थों में होता है; जैसा विश्व प्रकाश में स्पष्ट है कि "वसुर्मयूखाग्निजनाधिपेषु योक्त्रे सुरे स्याद्वसुहाटके च। वृद्धौषधस्थानधनेषु रत्ने वसु स्मृतं स्यान्मधुरेऽन्यवच्च"।

अयच्छत्—दाण् धातु का अर्थ देना होता है। यह दाण् धातु के लङ् लकार का प्रयोग है। नियम यह है कि लट्-लोट्-लङ् और विधिलिङ् में

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
"पा	घ्रा	ध्मा	स्था	म्ना	दाण्	दृशि	अर्ति	सर्ति	शद्	सदां=
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११

पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्य-ऋच्छ-धौ-शीय-सीदाः"
७।३।७८ से क्रमशः आदेश हो जाते हैं अतः दाण् के स्थान पर यच्छ हो गया। अ+यच्छ+ति त्=अयच्छत् यह रूप लङ् भूतार्थ में होता है।

अधुना—अस्मिन् काले इति इदम्। यहाँ पर कालवाची सप्तम्यन्त इदम् शब्द से स्वार्थ में अधुना प्रत्यय होता है। "अधुना" ५।३।१७ सूत्र से निपातन होता है। कोश के अनुसार 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा" इत्यमरः॥

वल्कवसांसि—वस्यते आच्छाद्यते अनेन इति वासः, वलति इति वल्कम्, वल्कानि एव वासांसि तानि वल्कवासांसि। वल् धातु से कल प्रत्यय वल्कलः। अथवा वल् धातु से उणादि सूत्र "शुकवलोल्काः" से कन् प्रत्यय होकर वल्कम् होता है। वल् धातु भ्वादि में संवरण अर्थ में पठित है "त्वक् स्त्री वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्" इति कोशः।

आहरन्—आ+हृ+शतृ प्रथमा एकवचन। आहरन्-आहरन्तौ-आहरन्तः॥

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—छेक, वृत्यनुप्रास तथा श्रुत्यनुप्रासों की संसृष्टि।

विशेष—द्रौपदी राजा युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए कहती है जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महापराक्रमी इन्द्र के समान बलशाली अर्जुन ने उत्तरी कुरुओं को जीतकर आपको सुवर्ण-रत्नों का भण्डार प्रदान किया, क्या वही अर्जुन दक्षिणी कुरुओं को जीत नहीं सकता ? जो उत्तरी कुरुओं को विजय कर सकता है वह दक्षिणी कुरुओं को भी जीत सकता है। परन्तु इसके लिए आपका आदेश नितान्त आवश्यक है। यहाँ पर 'उत्तर-कुरु' यह प्रयोग दुर्योधन के राज्य से भिन्नता प्रकट करने के लिये किया गया है। यह प्रदेश मेरु पर्वत के निकट सम्भवतः गन्धर्वों का देश था जिसमें तिब्बत, भूटान तथा चीन का कुछ प्रदेश लिया जा सकता है। इस प्रकार का धनुर्धर जो सुवर्ण और रत्नों का समूह लाकर आपको देता था वही आपको वल्कल वस्त्र लाकर पहनने के लिये देता है और स्वयम् धारण करता है। उसकी इस दयनीय अवस्था को देखकर आपके मन में क्रोध नहीं उत्पन्न होता, यह तो महान् आश्चर्य की बात है।।३५।।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ।।३६।।

अन्वय—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती, विष्वक्, कचाचितौ, अगजौ, गजौ, इव, यमौ, विलोकयन्, त्वं, कथं, धृतिसंयमौ, बाधितुं, न, उत्सहसे ।।

वाच्यान्तरम्—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयता त्वया कथं धृतिसंयमौ बाधितुं न उत्सह्यते ।।

वनान्तेति। वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तथा कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ 'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती। विष्वक समन्तात्। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। कचाचितौ कचव्याप्तौ। विशीर्णकेशावित्यर्थः। अत एवागजौ गिरिसम्भवौ गजाविव स्थितावेतौ। यमौ युग्मजातौ। माद्रीपुत्रावित्यर्थः। 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः। विलोकयंस्त्वं कथं धृतिसंयमौ सन्तोष-नियमौ। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः। बाधितुं नोत्सहसे न प्रवर्तसे। 'शकधृष'—इत्यादिना तुमुन्। अहो ते महद्धैर्यमिति भावः।।

अर्थ—वन-प्रदेश में बिछौना रहित भूमि पर सोने के कारण कठोर शरीर वाले तथा बढ़े हुए बालों के कारण चारों ओर से व्याप्त जंगली हाथियों के समान इन दोनों नकुल सहदेव को देखते हुए आप धैर्य तथा शान्ति धारण किये हुए हैं, आपका धैर्य नहीं छूटता (यही आश्चर्य है) ।।

व्याख्या—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती=वनमध्यभूशयनकठोरशरीरौ (वन के मध्य पृथ्वी पर सोने के कारण कठोर आकृति धारण करने वाले) विष्वक्=परितः, समन्तात्, सर्वतः (चारों ओर से) कचाचितौ=केशव्याप्तशरीरौ (बालों से व्याप्त शरीर वाले) अगजौ=पर्वतीयौ (पर्वतीय प्रदेश में उत्पन्न होने वाले) गजौ=हस्तिनौ (हाथियों के समान) यमौ=यमजौ (जुड़वें, नकुल और सहदेव को) विलोकयन्=पश्यन् (देखते हुये) त्वम्=युधिष्ठिरः (आप युधिष्ठिर) कथम्=कस्मात् कारणात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(किस कारण से) धृतिसंयमौ=धैर्यनियमौ (धैर्य तथा शान्ति को) बाधितुम्=दूरीकर्तुम् (दूर करने के लिये) नोत्सहसे=न प्रवर्त्तसे (साहस नहीं करते) ॥३६॥

व्याकरणम्—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती—वनति इति वनम्, वनस्य अन्तः इति वनान्तः। शय्यते इति शय्या। वनान्ते एव शय्या वनान्तशय्या। कठति इति कठिनं, न कठिनाः अकठिनाः अकठिनाः कठिनाः सम्पद्यमाना इति कठिनीकृताः। (वनान्तशय्यया कठिनीकृता आकृतिः ययोः तौ वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती)। वन् धातु से अच् प्रत्यय होकर वनं सिद्ध होता है। इसका प्रयोग 'जल' के लिये भी किया जाता है; जैसा कि "वने सलिलकानने" इस कोश-वचन से ज्ञात होता है। "वनं नपुंसकं नीरे निवासालयकानने" वन् अर्थात् जंगल के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। जैसे "अरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्" इत्यमरः॥ अन्त शब्द का प्रयोग निधन के साथ ही अव्यय अर्थ में प्रयुक्त होता है इति हेमचन्द्राचार्यः। शीङ् स्वप्ने धातु से "संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ् शीङ् भृञिणः ३।३।९९ से क्यप् प्रत्यय होकर शी×य होता है तदनन्तर "अयङ् यि विङति" ७।४।२२ से 'ई' के स्थान पर अयङ् आदेश होकर शय्या सिद्ध होता है॥ कृच्छ्रजीवन अर्थ में कठ् धातु से उणादि सूत्र "बहुलमन्यत्र" से इनच् प्रत्यय होकर 'कठिनम्' होता है। "कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढम्" इत्यमरः॥

विष्वग्—विषु अंचति इति विष्वक्-ग्। यहाँ पर 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाश्च' ३।२।५९ से क्विन् प्रत्यय होकर विष्वच् होता है पुनः "झलां जशोऽन्ते" से च् को ग् तदनन्तर "वाऽवसाने' से ग् को क् होकर विष्वक् तथा विष्वग् दो रूप होते हैं। "समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि" इत्यमरः॥

कचाचितौ—कच्यते इति कचः। कचैः आचितौ इति कचाचितौ। आ+चि+क्त=प्रत्यय। चितः भ्वादिगणीय कच्=बन्धने धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः' ३।३।११८ से 'घ' प्रत्यय होता है। कचति आत्मानं वा इति कचः "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो" ३।१।१३४ से यहाँ अच् प्रत्यय होकर कचः होता है। "कचः शुष्कव्रणे केशे ग्रन्थे पुन्ने च गीयते। कचा करेण्वाम्" इति हैमः। अमरस्तु "चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः" इति।

अगजौ—न गच्छति इति अगः, अगे जायते इति अगजः तौ अगजौ॥

गजौ—गजति इति गजः तौ गजौ। भ्वादिगणीय गज् मदने धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होता है। मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी" इत्यमरः॥

यमौ—'यमौ दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च" इति विश्वकोषः॥

विलोकयन्—वि+लोक+चुरादीय णिच्+शतृ+विलोकयन्।

धृतिसंयमौ—धृतिश्च संयमश्च धृतिसंयमौ तौ धृतिसंयमौ॥ धृ धातु से क्तिन् "स्त्रियां क्तिन्" ३।३।९४ सूत्र से होता है। सम्+यम्+अप्=संयमः। "धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु" इति विश्वकोशः। अमरकोशस्तु "धृतिर्धारणधैर्ययोः" इति॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाधितुम्—बाध् धातु "शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्" ३।४।६५ सूत्र से तुमुन् प्रत्यय होकर बाधितुम् सिद्ध होता है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—यमक और अनुप्रास। "सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते" साहित्यदर्पण। यदि भिन्न-भिन्न अर्थ वाले स्वर-व्यंजन-समूह की एक ही क्रम से आवृत्ति हो तो उसे यमक कहते हैं। इस नियम से उक्त श्लोक के 'अगजौ गजौ तथा संयमौ यमौ' में यमक अलंकार है॥

"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्" साहित्यदर्पण। शब्दसाम्य को अनुप्रास कहते हैं, इस नियम से कृताकृतौ में अनुप्रास है॥३६॥

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥३७॥

अन्वय—अहम्, इमाम्, तावकीं, धियं न वेद। चित्तवृत्तयः, विचित्ररूपाः खलु। परां, भवदापदं, विचिन्तयन्त्याः, मम, आधयः, प्रसभं चेतः, रुजन्ति॥

वाच्यान्तरम्—मया इयं तावकी धीर्न विद्यते (न ज्ञायते)। चित्तवृत्तिभिर्विचित्र-रूपाभिः (भूयते) परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः मम् आधिभिश्चेतः प्रसभं रुज्यते॥

इमामिति। इमां वर्त्तमानाम्। तवेमां तावकीं त्वदीयाम्। 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्ययः। 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि। परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति भावः। 'विदो लटो वा' इति लटो णलादेशः। न चात्मदृष्टान्तेनापन्नत्वाद् दुःखितमनुमातुं शक्यते। धीरादिष्वनैकान्तिकत्वादित्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु। किन्तु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम्। आधयो मनोव्यथाः 'उपसर्गे घोः किः' इति कि प्रत्ययः। प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति 'रुजो भंगे' इति धातोर्लिट्। पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोतीति महच्चित्रमित्यर्थः। चेत इति। 'रुजार्थानां भाववचनामज्वरे' इति षष्ठी न भवति। तत्र शेषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति॥

अर्थ—आपकी यह बुद्धि कैसी है यह मैं नहीं समझ सकती क्योंकि लोगों की चित्तवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। आपकी इस विपत्ति को सोचते हुए मनो-व्यथा मेरे चित्त को दुःखित कर देती है परन्तु आपके धैर्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, यही महान् आश्चर्य का विषय है॥

व्याख्या—अहम्=द्रोपदी (मैं द्रोपदी) इमाम्=ईदृशीम्, वर्तमानाम् (इस दशा में वर्तमान) तावकीम्=त्वदीयाम् (आपकी) धियम्=मतिम् (बुद्धि को) न वेद =न जानामि (नहीं जानती हूँ) चित्तवृत्तयः=मनोव्यापाराः (मन के संकल्प विकल्प आदि) विचित्ररूपाः=भिन्नप्रकाराः (भिन्न-भिन्न प्रकार के) खलु भवन्ति=निश्चयेन जायन्ते (निश्चय ही हुआ करती है) पराम्=अधिकाम् (अधिक रूप में स्थित) भवदा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदम्=भवद्विपत्तिम् (आपकी विपत्ति को) विचिन्तयन्त्याः=स्मरन्त्याः (स्मरण करते हुए) मम=द्रौपद्याः (मुझे द्रौपदी की) आधयः=मनोव्यथाः (मन की व्यथायें) प्रसभम्=सहसा (शीघ्रता से) चेतः=चित्तम् (मन को) रुजन्ति=पीडयन्ति (दुःखित कर देती है) ॥३७॥

व्याकरणम्—तावकीम्—तव इयम् इति तावकी ताम् तावकीम्। यहाँ पर "तस्य इदम्" इस अर्थ में युष्मद् शब्द से "तस्येम्" ४।३।१२० सूत्र से अण् प्रत्यय होता है और अण् प्रत्यय होने पर 'तवकममकावे।·पने" ४।३।३ से (अण् प्रत्यय बाद में रहने पर युष्मद् और अस्मद् शब्द को तवक तथा ममक आदेश हो जाते हैं) युष्मद् को तवक आदेश होकर आदि अच् की वृद्धि तावक स्त्रीवाचक होने पर ङीप् तावकी। पुलिङ्ग में तावकः, अस्मद् शब्द से 'मामकीं, मामकाः' यह रूप होंगे ॥

धियम्—ध्यायति अनया इति धीः ताम् धियम्। ध्यैं चिन्तायाम् इस धातु से ऐ के स्थान पर आ ध्या तब "ध्यायतेः सम्प्रसारणम् च" २।२।१७८ इस सूत्रवार्तिक से ध्या के 'य' को सम्प्रसारण इ तथा "हलः" ६।४।२ दीर्घ धी। पूर्व वार्तिक से क्विप् भी हो जाता है। "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः" इत्यमरः ॥

चित्तवृत्तयः—चित्तस्य वृत्तयः इति चित्तवृत्तयः। चिती संज्ञाने धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर चित्तम् होता है।

विचित्ररूपाः—विशेषेण चित्रा इति विचित्रा अतिशयेन विचित्रा इति विचित्ररूपाः। यहाँ पर "प्रशंसायां रूपप्" ५।३।६६ के रूपप् प्रत्यय हो जाता है। अथवा विचित्रं रूपं यासां ता विचित्ररूपाः। "विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं····चित्रम्" इस कोशवाक्य के अनुसार चित्रम् का अर्थ अद्भुत विस्मयकारक होता है। परन्तु यहाँ पर वि उपसर्ग लग जाने से विशेष रूप से आश्चर्य उत्पन्न करने वाला यह अर्थ हो गया।

खलु—यह अव्ययावाचक शब्द है। वाक्य को सुशोभित अथवा पादपूर्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। इसके साथ ही इसका अर्थ निश्चित होता है। खल् संचये सातु से बाहुलकात् 'उ' प्रत्यय होकर खलु सिद्ध होता है। कोश के अनुसार भी "निषेधवाक्यालंकारे जिज्ञासानुनये खलु" इत्यमरः। मेदिनीकोश में भी कहा गया है कि "खलु स्याद् वाक्यभूषायां जिज्ञासायां च सान्त्वने। वीप्सामाननिषेधेषु पूरणे पादवाक्ययोः"। इति ॥

पराम्—पिपर्ति पूर्यते अनेन वा इति परः ताम् पराम्। 'पॄ' धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होकर परः, तथा पॄ धातु से "ॠदोरप्" ३।३।५७ से अप् प्रत्यय होकर पर, स्त्रीलिंग में टाप् होकर यह परा होता है अथवा 'पुंसि संज्ञायां घः" ३।३।११८ मे घ प्रत्यय भी होता है। "दूरान्यात्मोत्तमाः पराः" इन अर्थों में पर शब्द का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त "परः श्रेष्ठारिदूरान्योऽन्तरे क्लीवं तु केवले" इति मेदिनीकोशः। "परो दूरान्यश्रेष्ठशत्रुषु। परन्तु केवले" इति हैमः ॥

भवदापदम्—भाति इति भवान्। भवतः भवताम् वा आपद् भवदापद् ताम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवदापदाम्। 'भा' से 'डवतु' प्रत्यय होकर भवत् षष्ठी एकवचन व बहुवचन में भवतः, भवताम्। इति। आ+पद् धातु से "स्त्रियां क्तिन्" ३।३।४९ से क्तिन् प्रत्यय आपत्तिः। क्विप् प्रत्यय "संपदादिभ्यः क्विप्" ३।३।१०८ वार्तिक से होने पर आपद् होता है विपत्तौ विपदापदौ" इत्यमरः॥

विचिन्तयन्त्याः—वि उपसर्ग पूर्वक चिन्त् धातु से णिच् प्रत्यय तथा "लटः शतृशानचौ" ३।२।१२४ से शतृ प्रत्यय होकर विचिन्तयत् तत्पश्चात्, नुम् और स्त्रीत्व विवक्षा में "उगितश्च" ४।१।६ से ङीप् प्रत्यय तथा "शप्श्यनोर्नित्यम्" ७।१।८१ से नित्य नुम् होता है तब विचिन्तयन्ती होता है॥

आधयः—आधीयते दुःखमनेन इति आधिः ते आधयः। आङ्+धा धातु से "उपसर्गे घोः किः" ३।३।९२ से कि प्रत्यय होकर आधि होता है "पुंस्याधिर्मानसीव्यथा" इत्यमरः। आधिः पुमांश्चित्तपीडा प्रत्याशावन्धकेषु च। व्यसने चाप्याधिष्ठाने"। इति मेदिनी॥

प्रसभम्—प्रगता सभा विचारः तस्मात् इति, सभाया प्रगतो इति प्रसभम्, भव में "भावे" ३।३।१८ से घञ् प्रत्यय होता है। "प्रसभं तु बलात्कारो हठः" इति अमरः। "क्लीबे तु प्रसभं" इति बोपालितः। "हठः स्यात्प्रसभे" इति मेदिनी॥

चेतः—चित् धातु से उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्यः असुन्" से असुन् प्रत्यय होकर चेतस् सिद्ध होता है। "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः। यहाँ पर शेषत्व कथन न होने के कारण 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः" २।३।५४ से षष्ठी विभक्ति का निषेध को गया है॥

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास। काव्यलिंग। शेष का सामान्य से समर्थ न होने के कारण अर्थान्तरन्यास।

विशेष—द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है कि इस प्रकार के निन्दनीय और गर्हित मार्ग पर आप चल रहे हैं और शत्रुजनित अपमान को महान् होकर भी भोग रहे हैं। इस कारण मैं सोच रही हूँ कि विश्व में लोगों की भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हुआ करती हैं, अन्यथा जबकि मुझे यह व्यथायें हठात् व्यथित कर देती हैं तो आप ऐसे महान् व्यक्ति को तो अवश्य ही व्यथित करनी चाहिए, परन्तु आप किसकी चिन्ता न करते हुए शान्त हैं॥३७॥

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥३८॥

अन्वय—पुरा, यः (त्वं) महाधनं, शयनम्, अधिरूढः, (सन्) स्तुतिगीतिमङ्गलैः, विबोध्यसे। स, त्वम्, अदभ्रदर्भां, स्थलीम् अधिशय्य, अशिवैः, शिवारुतैः निद्रां, जहासि॥

वाच्यान्तरम्—पुरा महाधनं शयनमधिरूढं यं त्वां स्तुतिगीतिमङ्गलैः विबोधयन्ति। तेनैवाधुना अदभ्रदर्भां स्थलीमधिरुह्य अशिवः शिवारुतनिद्रा हीयते॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरेति—यस्त्वं महाधनं वहुमूल्यं श्रेष्ठम् । "महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः । शयनं शय्यामधिरूढ़ः सन् । स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः पुरा विवोध्यसे वैतालिकैरिति शेषः । पूर्वं वोधित इत्यर्थः । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूतार्थे लट् । स त्वमदभ्रदर्भां बहुकुशाम् 'अस्त्री कुशं कुथो दर्भः' इति । 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चामर. । स्थलीमकृत्रिमभूमिम् । 'जानपद'—इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप् । एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम् । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम् । अधिशय्य शयित्वा । 'अयङ्यिक्ङिति' इत्ययङादेशः । अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टुवासितैः । 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती । निद्रां जहासि अद्येति शेषः ॥

अर्थ—पूर्व समय में जब आप सिंहासनारूढ़ थे तब बहुमूल्य बिछौने से पूर्ण पर्यङ्क पर शयन करते तथा प्रातःकाल बन्दियों तथा चारणों से स्तोत्र-पाठ तथा गीत-गान के साथ वाद्यों तथा मंगलवाचक शब्दों को सुनकर निद्रा का परित्याग करते थे। वही आप इस समय कण्टकाकीर्ण उन्नतावनत जंगली भूमि पर सोते हुए सियारों के अमंगल-सूचक शब्दों से नींद त्यागते हैं ॥

व्याख्या—पुरा=पूर्वस्मिन् समये (पहले राज्याधिरोहण के अवसर पर) यः =भवान् (जो आप) महाधनम्=वहुमूल्यम् (अत्यन्त कीमती) शयनम्=शय्याम् पर्यङ्कम् (पलंग पर) अधिरूढः=आरूढः (चढ़कर सोते थे) स्तुतिगीतिमङ्गलैः=स्तोत्र-गानादिमङ्गलैः (स्तोत्र गीत अथवा मङ्गलवाचक शब्दों के द्वारा) विबोध्यसे=निद्रां जहासि (निद्रा का परित्याग करते थे) सः=भवान् (वही आप) अदभ्रदर्भान् (बहुत कुशों से परिपूर्ण) स्थलीम्=भूमिम् (जङ्गल की ऊँची नीची कण्टकाकीर्ण भूमि पर) अधिशय्य=शयित्वा (सो करके) अशिवैः=अमङ्गलैः (अमङ्गल-सूचक) शिवारुतैः= शृगालीरवैः (सयारिनियों के शब्दों द्वारा) निद्राम्=शयनम् (निद्रा को) जहासि= त्यजसि (छोड़ते हो) ॥३८॥

व्याकरणम्—महाधनम्=महत् धनम् यस्य तत् महाधनम् । समास होने पर 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' ६।३।४६ से महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो जाता है । "बहुमूल्यं महाधनम्" इत्यमरः । "महाधनम् महामूल्यं" इति विश्वः । महाधनम् का प्रयोग बहुमूल्य अर्थ में होता है ॥

शयनम्—शय्यते अस्मिन् इति शयनम् । शय्यते अत्र इति शयनम् । शीङ् स्वप्न धातु से "करणाधिकरणयोश्च" ३।३।११७ सूत्र से भाव में ल्युट् प्रत्यय होने पर 'य' को 'अन' आदेश होकर शयनम् बनता है । "शय्यायां शयनीयवत् । शयनम् मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्का खट्वया समाः" इत्यमरः । उपर्युक्त सूत्र से अधिकरणवाचक होने के कारण यहाँ ल्युट् प्रत्यय होता है । "स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि" इत्यमरः ॥

अधिरूढ—अधि पूर्वक रुह् धातु से "गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजन-रुहजीर्यतिभ्यश्च" ३।४।७२ से क्त प्रत्यय होता है तब अधि+रुह्+त होता है ।

स्तुतिगीतिमङ्गलैः—स्तुतिश्च गीतिश्च मङ्गलञ्च स्तुतिगीतिमङ्गलानि तैः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तुतिगीमङ्गलैः। अथवा स्तुतयश्च गीतयश्च स्तुतिगीतयः, स्तुतिगीतयः एव मङ्गलानि स्तुतिगीतिमङ्गलानि तैः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ॥ स्तूयते अनेन इस समास में "स्त्रियां क्तिन्" ३।३।९४ सूत्र से क्तिन् प्रत्यय होने स्तुतिः सिद्ध होता है ॥ गीयते इति गीतिः। गै धातु से क्तिन् प्रत्यय ३।३।९४ होकर गै+ति होता है तब "आदेच उपदेशेऽशिति" ६।१।४५ 'ऐ' के स्थान पर (आ) तथा "घुमास्थागापाजहातिसां हलि" ६।४।६६ से (आ) के स्थान पर 'ई' होकर गीति यह होता है ॥

मङ्गति, मङ्ग्यते वा इस अर्थ में 'मगि' धातु रहने पर उणादि सूत्र "मङ्गेरलच्" से अलच् प्रत्यय होकर मङ्गलम् होता है "मङ्गला सितदूर्वायामुमायां पुंसि भूमिजे। नपुंसकं तु कल्याणे सर्वार्थे रक्षणेऽपि च" इति मेदिनी। "श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम्" इत्यमर। "स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः" इत्यमरः ॥

विबोध्यसे—वि उपसर्ग पूर्वक बुध् धातु से णिच् लट् विबोध्यसे। यहाँ पर पुरा शब्द का प्रयोग होने के कारण "पुरि लुङ् चास्मे" ३।२।१२२ सूत्र से लट् लकार का प्रयोग हुआ है अर्थात् पुरा के योग से भूत और अनद्यतनकालिक क्रियावाची धातु से विकल्प से लुङ् और लट् होता है स्म का प्रयोग न रहे तो। यहाँ 'स्म' का प्रयोग नहीं हुआ ॥

अदभ्रदर्भाम्—दम्भते इति दभ्रः, न दभ्राः अदभ्राः, अदभ्रा दर्भा यस्यां सा अदभ्रदर्भा ताम् अदभ्रदर्भाम् ॥ दम्भु धातु से उणादि सूत्र "स्फायितञ्चि" से रक् प्रत्यय होकर दभ्र होता है, नञ् समास करने पर अदभ्र बना। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु" इत्यमरः। दृभ्यते इति दर्भः। दृभी धातु से "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" ३।३।१९ से घञ् प्रत्यय दर्भः होता है। "अस्त्री कुशं कुथो दर्भः पवित्रम्" इत्यमरः। "अधिशीङ्स्थासां कर्म" सूत्र से कर्मसंज्ञा होती है ॥

स्थलीम्—स्थलति इति स्थलम् स्त्री चेत् स्थली। स्थल् स्थाने धातु से नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होने पर स्थलम्। स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर "जानपदकुण्डगोणस्थल"""४।१।४२ से ङीष् प्रत्यय होकर स्थली द्वितीयाकारण एकवचन स्थलीम्। स्थली का अर्थ होता है अकृत्रिम भूमि। जहाँ पर कृत्रिम भूमि के लिये प्रयोग किया जायगा वहाँ स्थल होगा। "स्थलं स्थली। अकृत्रिमा स्थली" इत्यमरः।

अधिशय्य—अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ् स्वप्ने धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है और उपसर्ग होने के कारण "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" ७।१।३७ से क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है। तब अधिशी+य होता है तदनन्तर "अयङ् यि क्ङिति" ७।४।२२ से 'शी' के ई को अयङ् आदेश हो जाता है तब अधिशय्य होता है ॥

अशिवैः—न शिवानि अशिवानि तैः अशिवैः।

शिवारुतैः—शिवानां रुतानि शिवारुतानि तैः शिवारुतैः। "स्त्रियां शिवाभूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः" इत्यमरः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निद्राम्—"स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि" इत्यमरः। नि पूर्वक द्रा धातु से अङ् प्रत्यय होकर निद्रा होता है।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—विषम। गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारब्धस्य-वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः॥ विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्" साहित्य-दर्पणम्। अर्थात् यदि कार्य और कारण के गुण या क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य तो पूरा न हो, प्रत्युत कुछ अनर्थ आ पड़े, यद्वा दो विरूप पदार्थों का मेल हो तो वहाँ विषम अलङ्कार होता है। यहाँ पर दो विरूप पदार्थों का अर्थात् बहुमूल्य पर्यङ्क पर सोना और स्तुति तथा मंगल-पाठ को सुनकर उठाना और यहाँ वन में कुशवहुल स्थलों पर सोना तथा शृगालियों के अमंगल-सूचक शब्दों को सुनकर निद्रा त्यागना। यह दो वाक्य विरुद्ध हैं, परन्तु यहाँ पर मेल कर दिया गया है, इस कारण विषमालङ्कार है॥३८॥

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतवन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥३९॥

अन्वय—हे नृप! पुरा यद् एतद् (वपुः) द्विजातिशेषेण, अन्धसा, रामणीयकम्, उपनीतम्, तत्, अद्य, वन्यफलाशिनः, ते, वपुः, यशसा, समं, परम्, कार्श्यम्, परैति॥

वाच्यान्तरम्—हे नृप! पुरा यद् एतद् (वपुः) द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकमुपनीतवत्, तेन वन्यफलाशिनस्ते वपुषा यशसा समं परं कार्श्यं परेयते॥

पुरेति हे। नृप, यदेतत्पुरोवर्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभक्तावशिष्टे-नान्धसाऽन्नेन। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः। रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वमुपनीतं प्रापितम्। नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात्। अद्य वन्यफलाशिनस्ते तव तद्वपुर्यशसा समं परमति-मात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति। उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः। अत्र सहोक्तिरलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकद्विवाचकम्' इति॥

अर्थ—हे राजन् युधिष्ठिर! पहले जो आपका यह शरीर ब्राह्मणों तथा अभ्यागतों के भोजन कर लेने से शेष अन्न के भक्षण से सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट बना हुआ था, वही आज जंगली कन्दमूल के भक्षण से आपका शरीर यश के साथ ही अत्यन्त दुर्बल हो गया है॥

व्याख्या—हे नृप=हे राजन् युधिष्ठिर (हे राजा युधिष्ठिर) पुरा=पूर्वस्मिन् समये (पूर्व समय में) यत् एतद् वपु=यदिदं शरीरम् (जो यह शरीर) द्विजातिशेषेण=ब्राह्मणभोजनावशिष्टेन (ब्राह्मणों के भोजन करने से बचे हुए) अन्धसा=अन्नेन (अन्न से) रामणीयकम्=मनोहरत्वम् (सुन्दरता को) उपनीतम्=प्रापितम् (प्राप्त किया था) तत् अद्य=सैव अधुना (वही आज वनवास के समय में) वन्यफलाशिनः=वनोत्पन्नफलमूलभोजिनः (जंगल में उत्पन्न फल मूल को भक्षण करने से) ते=तव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आप युधिष्ठिर का) वपुः=शरीरम् (शरीर) यसशा=कीर्त्या (कीर्ति के साथ ही) परम्=अत्यधिकम् (अत्यधिक) कार्श्यम्=दुर्बलत्वम् (दुर्बलता को) परैति=प्राप्नोति (प्राप्त हो गया है) ।।३६।।

व्याकरणम्—हे नृप—नॄन् पाति इति नृपः, तत्सम्बुद्धौ हे नृप ! नृ पूर्वक पा रक्षणे धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' ३।२।३ से क प्रत्यय होकर नृप होता है। "राज्ञि राट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः" इत्यमरः।

द्विजातिशेषेण—शिष्यते इति शेषम्। द्वाभ्यां जायते इति द्विजाः। हे जन्मनी येषां ते द्विजातयः, द्विजातीनां शेषः द्विजातिशेषः तेन द्विजातिशेषेण। द्विज का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, दाँत, अडण्जों के लिये किया जाता है "द्विज स्यात् ब्राह्मण-क्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु ना" इति मेदिनी। परन्तु यहाँ पर केवल ब्राह्मण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। द्विजाति के लिये स्मृति प्रमाण।

"मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्" मनुः २।१।६६ जन्म और संस्कार के कारण दो जन्म माने जाते हैं। जन्म से सभी शूद्र हुआ करते हैं संस्कारों से ही द्विज कहे जाते हैं "जन्मसंस्काराख्ये द्वे जन्मनी। जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते" इति स्मृतिप्रयोगात्। द्विजाति का प्रयोग ब्राह्मण के लिए इसमें प्रमाण "द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः। विप्रश्च ब्राह्मणः इत्यमरवाक्यम् ।।

अन्धसा—अद्यते इति अन्नम्, अन्धो वा। अद् भक्षणे धातु से उणादि सूत्र 'अदेर्नुम्धौ च" से असुन् प्रत्यय नुम् तथा 'द' को ध होकर अन्धस् होता है, तृतीया में अन्धसा होगा। अथवा अन्ध धातु से अन्धयति इस अर्थ में उणादिसूत्र "सर्वधातुभ्योऽसुन्" से असुन् प्रत्यय होकर अन्धस्, तृतीया के एकवचन में असन्धसा होता है "भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री सदीदिविः" इत्यमरः।

रामणीयकम्—रम्यते इति इति रमणम् रमणीयस्य भावः रमणीयकम्, रम् धातु से "करणाधिकरणयोश्च" ३।३।११७ से ल्युट् होकर रमण होता है। रम् धातु से अनीयर् प्रत्यय रमणीय+वुञ्=अक=रमणीयकम्।

उपनीतम्—उप पूर्वक 'नी' धातु से क्त प्रत्यय होकर उपनीतम्। 'नी' धातु द्विकर्मक है वपुः प्रधान तथा रामणीयकम् अप्रधान कर्म है। प्रधान कर्म उक्त है अतः 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ है यथा 'नयतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि 'क्त' इति मल्लिनाथः ।। प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्" इति ।।

वन्यफलाशिनः—वने भवानि वन्यानि, वन्यानि फलानि वन्यफलानि, वन्यफलानि अश्नाति इति वन्यफलाशी तस्य वन्यफलाशिनः ।। वने भवः इस अर्थ में यत् प्रत्यय होकर वन्यः अश् धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" १।१।१३४ से णिनि प्रत्यय होकर आशी षष्ठी-एकवचन में आशिनः ।।

वपुः—वपति उप्यते वा इति वपुः डुवप् धातु से उणादि सूत्र "अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्" से उस् प्रत्यय होकर वपुस्=वपुः होता है। "वपुः क्लीबं तनौ शस्ता कृतावपि" इति मेदिनी। "अथ कलेवरम् ।। गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः। कायो देहः क्लीबपुंसाः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः" इत्यमरः ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यशसा—अश्नोति व्याप्नोति इति यशः। अशू व्याप्तौ धातु से उणादि सूत्र "अशेर्देवने युट् च" से असुन् प्रत्यय तथा धातु को युट् का आगम आदि में हो जाता है तब युट्+अश्+असुन्=यशस्, तृतीया के एकवचन में यशसा। यहाँ "सहयुक्तेऽप्रधाने" २।३।१९ से "साकं सार्धं समं योगेऽपि" इस नियम से 'समम्' का योग रहने के कारण तृतीया हो गई। "यशः कीर्तिः समज्ञा च" इत्यमरः।

समम्—"सार्धं तु साकं सत्रा समं सह" इत्यमरः।

कार्श्यम्—कृशस्य भावः कार्श्यम्। कृश् धातु से क्त प्रत्यय होने के अनन्तर "अणुपसर्गात्फुल्लक्षीवकृशोल्लाघाः" ८।२।५५ सूत्र से 'त' का लोप हो जाता है। इसके पश्चात् भाववाचक बनाने के लिए कृश+ष्यञ् प्रत्यय होकर कार्श्यम् होता है। कृश का अर्थ दुर्बल होता है। जैसा कि कोश में "स्तोकाल्पक्षुल्लकाः श्लक्ष्णं सूक्ष्मं दभ्रं कृशं तनु' कहा गया है।" इत्यमरः॥

परैति—परापूर्वक इण् गतौ धातु लट्+ति एति=परा+एति=परैति।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—सहोक्ति। "सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्" काव्यप्रकाश। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर सह अर्थ के सामर्थ्य से एक पद दो पदों से सम्बद्ध हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है। इस श्लोक में वन्य फल भक्षण से शारीरिक क्षीणता हो गई और शारीरिक क्षीणता के साथ ही साथ यश भी क्षीण हो गया, इसी कारण सहोक्ति अलंकार है॥

विशेष—द्रौपदी का कथन है कि पहले जब आप राजा थे उस समय आपका शरीर स्वस्थ था और उसके साथ यश भी स्वस्थ अर्थात् चारों ओर फैला था क्योंकि उस समय आप अनेक ब्राह्मणों को भोजन करा लेने के अनन्तर उनसे अवशिष्ट अन्न को ग्रहण करते थे। सन्तुष्ट हुए वे ब्राह्मण आपके यश का गान चारों ओर किया करते थे। अतः आपकी प्रतिष्ठा सर्वत्र व्याप्त थी और इस समय आप वन में उत्पन्न होने वाले जंगली फलों को खाते हैं जिनके खाने से स्वास्थ्य कृश है साथ ही पहले के समान अनेक ब्राह्मणों को इस समय आप खिलाने में असमर्थ हैं। अतः आपका यश भी व्याप्त नहीं हो पाता। तात्पर्य यही है कि शरीर और यश दोनों कृश अर्थात् दुर्बल हो गये हैं॥३९॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरः स्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्॥४०॥

अन्वय—राजशिरः स्रजां, रजः, अनारतं, मणिपीठशायिनौ, यौ, अरञ्जयत्। तौ, ते, चरणौ, मृगद्विजालूनशिखेषु, बर्हिषां वनेषु, निषीदतः॥

वाच्यान्तरम्—राजशिरःस्रजां रजसा अनारतं यौ मणिपीठशयिनौ, अरज्येताम्, ताभ्यां ते चरणाभ्यां मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषां, वनेषु निषद्यते॥

अनारतमिति। अनारतमजस्रं मणिपीठशायिनौ मणिमयपादपीठस्थायिनौ यौ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरणौ, राजशिरः स्रजां नमद्भूपालमौलिस्रजां रजः परागोऽरञ्जयत् । तौ ते चरणौ, मृगैर्द्विजैश्च तपस्विभिराल्लूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानाम् । 'बर्हिः कुशहुताशयाः' इति विश्वः । वनेषु निषीदतस्तिष्ठतः ।

अर्थ—हे राजन् युधिष्ठिर ! जो आपके पैर हर समय मणिमय पादपीठ पर विराजते हुये देशान्तर से आये हुये राजाओं के मस्तक की मालाओं के पराग से रंजित होकर सुशोभित होते थे, वही आपके दोनों चरण आजकल मृगों तथा ब्राह्मणों द्वारा काटे गये कुशों पर चलते हैं ॥

व्याख्या—राजशिरः स्रजाम्=महीपमौलिमालिकानाम् (महीपों के मस्तक पर स्थित मालाओं के) । रजः=परागः (पराग से) अनारतम्=सततम् (निरन्तर) मणिपीठशायिनौ=मणिमयपीठस्थायिनौ (मणिमय पादपीठ पर रहने वाले) यौ=चरणौ (जो दोनों चरण) अरञ्जयत्=समलञ्चकार (रंजित होकर शोभित होते थे) ते=तव (आपके) चरणौ=पादौ (दोनों पैर) मृगद्विजालूनशिखेषु=हरिणविच्छिन्न-अग्रभागेषु (हरिणों तथा ब्राह्मणों के द्वारा काटे गये अग्रभाग वाले) बर्हिषाम्=कुशानाम् (कुशों पर) वनेषु=जङ्गलेषु (जंगलों में) निषीदतः=तिष्ठतः (चलते हैं) ॥ ४० ॥

व्याकरणम्—राजशिरः स्रजाम्—राज्ञां शिरांसि राजशिरांसि, राजशिरासु अथवा राजशिरसाम् स्रजः, राजशिरः स्रजः तासां राजशिरः स्रजाम् । रञ्जयति इति राजा राजते शोभते इति राजा । राज् से कनिन् प्रत्यय राजन् । श्रीयते इति शिरः । "श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च" इस उणादि सूत्र से श्रिञ धातु को शिरादेय तथा असुन् प्रत्यय होकर शिरस् होता हैं ।—'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः 'शिरः प्रधाने सेनाग्रे शिखरे मस्तकेऽपि च" इति मेदिनीकोशः । सृज्यते वा सृजति सुखम् इति सृज् विसर्गे धातु से "ऋत्विक्दधृक् ३।२।५१ से क्विन् प्रत्यय होकर स्रक् होता है "माल्यं माला स्रजो मूर्ध्नि" इत्यमरः ॥

रजः—रञ्जति, (रज्यते अनेन इति रजः) रञ्ज् रागे धातु से उणादि सूत्र "भूरञ्जिभ्यां कित्" से असुन् प्रत्यय तथा "असे अके अने च रञ्जेर्नलोपो वाच्यः" इस वार्तिक से न का लोप होकर रजस्=रजः होता है । "रेणुर्द्वयोः स्त्रियां" धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः" इत्यमरः । इसके अतिरिक्त अन्य अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है । "रेणुमात्रे च दृश्यते" इति मेदिनी ॥

अनारतम्—अविद्यमानम् आरतम् यस्मिन् तत् अनारतम् । आ पूर्वक रम् विरागे धातु से भाव में "नपुसंके भावे क्तः" ३।३।११४ से क्त प्रत्यय होने पर आ+रम्+त तदनन्तर "अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनासिकलोपो झलि क्ङिति" ३।४।३७ से अनुनासिक 'म' का लोप होकर आरत, नञ् समास करने पर यह अनारतम् होता है । "सततानारताश्रान्तसंततावितानिशम् । नित्यानवरताजस्रमपि" ॥ इत्यमरः ॥

मणिपीठशायिनौ—मणीनां पीठं मणिपीठम्, मणिपीठे शयाते इति मणिपीठ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शायिनौ । मण्यते इति मणिः, मण् शब्दे धातु से उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्य इन्" से इन् प्रत्ययः होकर मणि होता है । "रत्न मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च" इत्यमरः ।

पठन्ति अत्र इति पीठम् "हलश्च" ३।३।१२१ से घञ् प्रत्यय होकर बाहुलकात् दीर्घ होने पर पीठम् होता है ! "पीठमासनम्" इत्यमरः । मणिपीठ+पूर्वक शीङ् स्वप्ने धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ से णिनि प्रत्यय होकर शायिन् रूप—शायी—शयिनौ—शायिनः होते हैं ॥

अरञ्जयत्—रञ्ज्+णिच्+लङ्=तिप्=अरञ्जयत् ।

चरणौ—चरन्ति अनेन चरणः तौ चरणौ । चर् धातु रहने पर "करणाधिकरणयोश्च" ३।३।११७ से ल्युट् होता है और ल्युट् में 'यु' शेष रहता, उसे सूत्र "युवोरनाकौ" से अन हो जाता है तब चरण बनता है । जब यह भ्रमण के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो नपुंसक लिंग होता है । "चरणोऽस्त्री बह्वृचादौ मूले गोत्रे पदेऽपि च । भ्रमणे भक्षणे चापि नपुंसक उदाहृतः" इति मेदिनीकोशः । "पादाग्रः प्रपदं पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरकोशः ॥

मृगाद्विजालूनशिखेषु—मृगाश्च द्विजाश्च मृगद्विजाः मृगद्विजैः आलूना शिखा येषां ते मृगद्विजालूनशिखाः तेषु मृगद्विजालूनशिखेषु ॥ यहाँ मृगद्विजः में "अभ्यर्हिते च" इस वार्तिक के नियम से द्विज का पहले प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि वार्तिक का अर्थ है कि द्वन्द्व समास होने पर जब कई विभिन्न पद हों तो उनमें जो श्रेष्ठ अर्थात् पूज्य होता है उसका प्रयोग पहले किया जाता है परन्तु यहाँ पर ऐसा नहीं किया गया है । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि क्रम प्रदर्शित करने के लिए भारवि ऐसे महापण्डित ने ऐसा प्रयोग किया है अर्थात् कुशों को पहले मृग हरित अवस्था में खाते थे-और पश्चात् ब्राह्मण लोग उसे तोड़कर ले जाते थे । कवि का यही अभिप्राय यहाँ प्रतीत होता है । मृग्यते व्याधैः इति मृगः । मृग् अन्वेषणे धातु से "अकर्तरि च कारके" ३।३।१९ सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है । "मृगः पशौ कुरंगे च करिनक्षत्रभेदयोः । अन्वेषणायां याञ्चायां मृगी तु वनितान्तरे" इति विश्वमेदिन्यौ ॥ "मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः" इत्यमरः ।

आ+लू+क्त=आलूत "ल्वादिभ्यः" ८।२।४४ से 'त' के स्थान पर 'न' हो जाता है तो आलूनः' यह प्रयोग होता है । शेते इति इस विग्रह में उणादि सूत्र "शीङो किद्ह्रस्वश्च" से ख प्रत्यय होकर शिखः सप्तमी के बहुवचन में शिखेषु होता है "शिखा चूड़ा" इत्यमरः । "शिखाशाखाबर्हिचूडालाङ्गलिक्यग्रमात्रके । चूडामात्रे शिफायां च ज्वालायां प्रपदेऽपि च" इति मेदिनी कोशः ॥

बर्हिषाम्—"बर्हिः कुशहुताशयोः" इति विश्वः ।

छन्द—वंशस्थ ।

अलंकार—विषमालङ्कार ॥४०॥

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥४१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्वय—यत्, इयं, दशा, द्विषन्निमित्ता (तवास्ति), ततः, समूलं मे, मनः, उन्मूलयति, इव। परैः, अपर्यासितवीर्यसम्पदां, मानिनां, पराभवः, अपि, उत्सवः एव (भवति)।

वाच्यान्तरम्—यद् अनया दशया द्विषन्निमित्तया भूयते, ततः समूलेन मे मनसा उन्मूल्यते इव। परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां मानिनां पराभवेनापि उत्सवेन एव भूयते॥

द्विषदिति—यद्यतः कारणादियं दशाऽवस्था। 'दशा वार्त्तावस्थायाम्' इति विश्वः। द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा। 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। अहो मे मन समूलं साशयमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव। दैविकीत्वापन्नदुःखायेत्याह-परैरिति। परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यावर्तिता वीर्यसम्पद्येषां तेषां मानिनां पराभवो विपदप्युत्सव एवेति वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः। मानहानिर्दुःसहा, न त्वापदिति भावः॥

अर्थ—शत्रुओं के कारण आज यह आपकी अवस्था हो रही है इसीलिए मेरा मन अत्यन्त खिन्न हो रहा है। शत्रुओं से अपराजित पौरुष वाले मनस्वी जनों के लिये पराभव भी उत्सव के समान ही होता है।

व्याख्या—यत्=यस्मात् कारणात् (जिस कारण से) इयम्=समुपस्थिता (इस प्रकार अनेक कष्टों को देने वाली उपस्थित) दशा=अवस्था द्विषन्निमित्ता शत्रुकृता (शत्रुओं के कारण) ततः=तस्मात् कारणात् (इस कारण से) समूलम्=साश्रयम् (मूल के साथ) मे=मम (मेरा) मनः=चेतः (मन को) उन्मूलयति=उत्पाटयति (उखाड़ रही है) परैः=शत्रुभिः (शत्रुओं के द्वारा) अपर्यासितवीर्यसम्पदाम् अखण्डितबलसम्पत्तीनाम् (अपराजित पौरुष सम्पत्ति वाले अर्थात् जिनके अतुल पराक्रम को शत्रु नष्ट नहीं कर सकते) मानिनाम्=मनस्विनाम (मान रूपी धन की प्रतिष्ठा को रखने वालों का) पराभवः=पराजयः (पराजय भी) उत्सवः एव भवति=हर्षोदयः एव भवति (उत्सव के समान ही होता है) ॥४१॥

व्याकरणम्—दशा—दशति, दश्यते वा इति दशा। दंश् दशने इस भौवादिक धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होकर अनुस्वार का लोप, स्त्रीत्वविवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' ४।१।४ से टाप् होकर दशा सिद्ध होता है। "दशावस्थानेकविधापि" इत्यमरः। "दशावस्थादीपवर्त्योर्वस्त्रान्ते भूम्नि योषिति" इति मेदिनी। "दशा वर्तावस्थायाम्" इति विश्वकोष॥

द्विषन्निमित्ता—(द्विषन्तः निमित्तानि यस्याः सा द्विषन्निमित्ता) द्विषत् में द्विष् से क्विप् प्रत्यय द्विट् शेष पूर्ववत्। निमेद्यति इति निमित्तम् ञि भिदा स्नेहने धातु से "ञीतः क्तः" ३।२।१८७ से क्त प्रत्यय होता है। इसके अनन्तर सूत्र "स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते" ७।२।३६ निर्देश से त को न नहीं हुआ। तब नुट् का आगम होकर निमित्ते यह सिद्ध होता है। "निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः" इत्यमरः॥

ततः—तस्मात् इति ततः। तनु विस्तारे धातु रहने पर "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" ३।२।१७८ सूत्र से क्विन् प्रत्यय तथा "गमः क्वौ" ६।४।४० से अनुनासिक 'व' का लोप हो जाने पर "पदान्ताद्वा" ६।१।७५ से 'तुक्' का आगम होकर 'तत्' सिद्ध होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। तत् सिद्ध हो जाने पर पंचम्यन्त अर्थ में "पञ्चम्यास्तासिल्" ५।३।७ से 'तसिल्' प्रत्यय तथा "त्यदादीनाम:" ७।२।१०२ से तत् के दूसरे "त" को 'अ' होकर ततस्= ततः सिद्ध होता है। "यत्तद्यतस्ततो हृतौ" इत्यमरः ॥

समूलम्—मूलेन सह वर्तते इति समूलम् सहमूलं वा। सह के साथ बहुव्रीहि समास होने पर "वोपसर्जनस्य" ६।३।८२ सूत्र से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से हो जाता हैं, इसी नियम से यहाँ समूलम् हुआ है।

मनः—मन्यते अनेन इति मनः। मन् से उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्योऽसुन्" से यहाँ पर असुन् होकर मनस् होता है। "मनश्चित्तं मनीषायाम्" "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः।

उन्मूलयति—उद्+मूल्+णिच्+लट्—तिप्=उन्मूलयति।

परैः—पिपर्ति रोषम्: इतिं परः। पृ धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होकर परः, तृतीया के बहुवचन में परैः। "अभिघाति-परारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः" इत्यमरः।

अपर्यासितवीर्यसम्पदः—न पर्यासिता, अपर्यासिता अपर्यासिता वीर्यसम्पद येषां ते अपर्यासितवीर्यसम्पदः तेषाम् अपर्यासितवीर्यसम्पदाम्। परि+आस्+णिच्+क्त प्रत्यय होकर पर्यासित, नञ समास अपर्यासित, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् अपर्यासिता। वीर्यते अनेन इति वीर्यम्। वीर् विक्रान्तौ धातु से "अचो यत्" ३।१।९७ से यत् प्रत्यय होकर वीर्यम् अथवा वीरे साधुः यहाँ पर "तत्र साधुः" ४।४।९८ से यत् प्रत्यय होकर वीर्यम्। "वीर्यं बले प्रभावे च" इत्यमरः। "वीर्यं प्रभावे शुक्रे च तेज-सामर्थ्ययोरपि" इति मेदिनी। सम् पूर्वक पद् धातु से "सम्पदादिभ्यः क्विप्" वार्तिक ३।३।१०८ से क्विप् प्रत्यय होकर सम्पद्। 'अथ सम्पदि। सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च।' इत्यमरः।

मानिनाम्—मानः अस्ति एषाम् इति मानिनः तेषां मानिनाम्। मत्समो नास्ति इति मननम्। मनु अवबोधने धातु से "भावे" ३।३।१८ से घञ् प्रत्यय होकर मान सिद्ध होता है। तत्पश्चात् 'अस्ति एषाम्' इस विग्रह में 'अत इनिठनौ' ५।२।११५ से इनि होकर मानी-मानिनौ-मानिनः रूप चलते हैं। "मानश्चित्तसमुन्नतिः" इत्यमरः।

पराभवः—परापूर्वक 'भू' से 'घञ् प्रत्यय होकर पराभवः। "पराभवस्तिर-स्कारे नाशे" इति हैमः ॥

अपि—न पियति इति अपि। पि मत्तौ से "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" ३।२।१७८ से क्विप् प्रत्यय होता है। आगम के अनित्य होने के कारण यहाँ पर 'तुक्' का 'आगम नहीं हुआ। "गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि" इत्यमरः। "अपि सम्भावना-प्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये। तथा युक्तपदार्थे च कामचारक्रियासु च" इति विश्वकोशः ॥

उत्सवः—उत्सुवति इति उत्सवः उत् पूर्वक षू प्रेरणे अथवा 'षू प्रसवैश्वर्ययोः से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होकर उत्सव होता है। "अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः" इत्यमरः। "उत्सवो मह उत्सेके इच्छाप्रसर-कोपयोः" इति मेदिनी ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा पूर्वार्द्ध में। उत्तरार्द्ध में अर्थान्तरन्यास।

विशेष—द्रौपदी का कथन है कि मनस्वी लोग यदि अपने शत्रुओं से कदाचित् पराजित भी हो जाते हैं तो भी अपने को हीन नहीं समझते, क्योंकि उनकी अवस्था शत्रु से पराक्रम पूर्वक युद्ध करके हीन होती है परन्तु आपकी तो यह दशा बिना पराक्रम प्रदर्शित किये हुए ही हो गई है इसी कारण मेरा मन अत्यन्त दुःखित हो रहा है। दूसरी बात, यह दशा शत्रुकृत होने के कारण असह्य है। यदि यह दैवगति होती तो कोई विशेष दुःख की बात नहीं थी, क्योंकि "चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः" अथवा 'चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च' नियम से सुख की प्राप्ति दुःख के अनन्तर सम्भव है। परन्तु न यहाँ पर कोई इस प्रकार की दशा है, अतः मुझे प्रतीत होता है कि पराजित हो जाने के कारण आपकी सम्पूर्ण शक्ति का विनाश हो गया है सभी शक्तियाँ नष्ट हो गई हैं जो कि आप ऐसे व्यक्ति के लिए युक्त नहीं।४१॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥४२॥

अन्वय—हे नृप, शान्तिं, विहाय, विद्विषां, वधाय, पुनः, तद्, धाम सन्धेहि, प्रसीद। निःस्पृहाः, मुनयः, शत्रून्, अवधूय, शमेन, सिद्धिं, व्रजन्ति। (किन्तु) भूभृतः (तथा) न।

वाच्यान्तरम्—नृप! शान्तिं विहाय विद्विषां वधाय पुनः तद् धाम (त्वया) सन्धीयताम्, प्रसद्यताम् निःस्पृहैर्मुनिभिः शत्रून्, अवधूय शमेन सिद्धिः व्रज्यते। किन्तु भूभृद्भिस्तथा न सिद्धिर्व्रज्यते॥

विहायेति—हे नृप, शान्तिं विहाय तत्प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेह्यङ्गीकुरु प्रसीद। प्रार्थनायां लोट्। ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह-व्रजन्तीति। निःस्पृहा मुनयः शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति। भूभृतस्तु शत्रून वधूय निर्जित्य। कैवल्यकार्यंवद्राजकार्यं न शातिसाध्यमित्यर्थः॥

अर्थ—हे राजन् युधिष्ठिर! आप शान्ति का परित्याग करके शत्रुओं का संहार करने के लिए उस राजोचित तेज को फिर धारण कीजिए। क्योंकि केवल शान्ति से निःस्पृह मुनि लोग ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं। राजा लोग इस प्रकार शान्ति से सिद्धि को नहीं प्राप्त करते॥

व्याख्या—हे नृप=हे राजन् (हे राजन् युधिष्ठिर) शान्तिम्=क्षमाम् (सम्पूर्ण अपमानों की सहनशीलता को) विहाय=त्यक्त्वा (त्याग करके) विद्विषाम्=शत्रूणाम् (शत्रुओं के) वधाय=नाशाय (विनाश के लिए) पुनः=भूयः (फिर से) तद्धाम=तत्प्रसिद्धम् क्षात्रं तेजः (उस प्रसिद्ध क्षत्रियत्व के तेज को (सन्धेहि=स्वीकुरु) स्वीकार करो (निःस्पृहाः=निरीहाः) किसी प्रकार की इच्छा न रखने वाले) मुनयः=संयमशालिनः (नियम यम का पालन करने वाले) शत्रून्=कामादीन् (काम क्रोध आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को) अवधूय=विनाश्य (नष्ट करके) शमेन=शान्त्या (शान्ति को धारण करने से) सिद्धिम्=मुक्तिम् (अभिलाषा की पूर्ति अथवा मोक्ष को) व्रजन्ति=गच्छान्ति (प्राप्त करते हैं) भूभृतः=राजानः (राजा लोग) न व्रजन्ति=नोपयान्ति (नहीं प्राप्त करते हैं) ॥४२॥

व्याकरणम्—नृपः=नॄ न् पाति इति नृपः तत्सम्बुद्धौ हे नृप ! नयति पूर्वपुरुषानुत्तमां गतिम् इति 'ना' नी धातु से उणादि सूत्र "नयतेर्डिच्च" से ऋ प्रत्यय तथा डित् होने के कारण 'नी' के 'ई' का लोप नृ तान् नॄ न् पाति यहाँ पर 'पा' धातु से "आतोऽनुपसर्गे कः" ३।२।३ से क प्रत्यय होकर नृपः सिद्ध होता है ॥

शान्तिम्—शयनम् शान्तिः तां शान्तिम् । 'शमु' उपशमे धातु से "स्त्रियां क्तिन्" ३।३।९४ से क्तिन् प्रत्यय होता है, अनुस्वार परसवर्ण तथा "अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" ६।४।१५ से दीर्घ होकर शान्ति सिद्ध होता है। "शमथुस्तु शमः शान्तिः" इत्यमरः ॥

विहाय—वि+हा+क्त्वा—ल्यप्=विहाय ।

धाम—दधाति धीयते वा इस अर्थ में धा' धातु से उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्यो मनिन्" से मनिन् प्रत्यय होकर धामन् एकवचन कर्त्ता में धाम । "गृहदेहत्विटप्रभावा धामानि" इत्यमरः" "धाम शक्तौ प्रभावे च तेजोमन्दिरजन्मसु, इति विश्वः ।

विद्विषाम्—द्वेष्टि इति द्विट् तेषाम् । वि उपसर्ग पूर्वक द्विष् अप्रीतौ धातु से "सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्" ३।२।६१ से क्विप् प्रत्यय होकर विद्विषाम षष्ठी में होता है ।

वधाय—हन् धातु से "हनश्च वधः" ३।३।७७ से अप् प्रत्यय तथा हन् को वध आदेश हो जाता और यहाँ पर "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" २।३।१४ से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

पुनः—पनते इति पुनः यहाँ पर बाहुलकात् अर् प्रत्यय और 'अ' को 'उ' होकर पुनः होता है । "पुनरप्रथमे मतम् । अधिकारे च भेदे च तथा पक्षान्तरेऽपि च" इति मेदिनी । पुनः का अर्थ पादपूर्ति में भी किया जाता है । साथ ही यह निश्चयवाचक भी है । "स्युरे वं तु पुनर्वेत्यवधारणवाचकाः" इत्यमरः । "चान्वाचये समाहारे अन्योन्यार्थे समुच्चये । पक्षान्तरे तथा पादपूरणेप्यवधारणे" इति रुद्रः ।

सन्धेहि—सम् पूर्वक 'धा' धातु मध्यम पुरुष लोट् लकार एकवचन ।

प्रसीद—प्र उपसर्ग पूर्वक सद् धातु लोट् म० पु० एकवचन । यहाँ पर "पाघ्राध्मा" सूत्र से सद् को सीद् आदेश हो जाता है ।

निःस्पृहा—निर्गता स्पृहा येषां ते निःस्पृहाः निर् उपसर्ग पूर्वक 'स्पृह्' ईप्सायां धातु से "आतश्चोपसर्गे ३।३।१०६ से अङ् प्रत्यय होकर टाप् होता है तो स्पृहा तथा उपसर्ग होने से निःस्पृह होता है । स्पृहा के अर्थ में बारह शब्दों का प्रयोग किया जाता है । "अथ दोहदम् । इच्छा कांछा स्पृहेहा तृड्वाञ्छा लिप्सा मनोरथः । कामोऽभिलाषस्तर्षश्च" इत्यमरः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुनयः—मन्यते इति मुनिः ते मुनयः। मन् धातु से उणादि सूत्र "मनेरुच्च" सूत्र से इन् प्रत्ययः "मुनिः पुंसि वशिष्ठादौ वङ्क्सेनतरौ जिने" इति मेदिनी। "वाचंयमो मुनिः" इत्यमरः।

शत्रून्—शातयति इति शत्रूः तान् शत्रून्। शद्लृ शातने धातु से उणादि सूत्र 'रुशातिभ्यां क्रून्' से क्रून् प्रत्यय शत्रु सिद्ध होता है। "दस्युशात्रवशत्रवः"।

अवधूय—अव+धू+क्त्वा—ल्यप्।

शमेन—शमनम् शमः तेन शमेन। शमु उपशमे धातु से "भावे" ३।३।१८ सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है, वृद्धि प्राप्त होने पर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ७।३।३४ से निषेध हो जाता है। "शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्" "शमथस्तु शमः शान्तिः" इत्यमरः।

सिद्धम्—सिध्यति इति सिद्धिः ताम् सिद्धिम् षिधु संसिद्धौ धातु से "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" से क्तिच् प्रत्यय होकर सिद्धिः सिद्ध होता है। "योग्यमृद्धिः सिद्धिलक्ष्म्यौ" इत्यमरः। "सिद्धिस्तु मोक्षे निष्पत्तियोगयोः" इति हैमः।

सिद्धि—स्त्री "योगनिष्पत्तिपादुकान्तर्धिवृद्धिषु" इति मेदिनी॥

भूभृतः—भुवं बिभ्रति इति भूभृतः। जुहोत्यादिगणीय 'भृञ्' धातु से "क्विप् च" ३।२।७६ सूत्र से क्विप् प्रत्यय तथा "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" ६।१।७० से तुक् का आगम होकर भूभृतः सिद्ध होता है। "भूभृतः भूमिधरे नृपे" इत्यमरः॥

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

विशेष—महाकवि कालीदास ने अपने अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में राजा तथा मुनि का समानता का वर्णन किया है। वस्तुतः दोनों का स्तर समान होता है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों प्रधान होते हैं। परन्तु यहाँ पर द्रोपदी का कहना है कि राजधर्म मुनिधर्म से सर्वथा भिन्न है। मुनियों को काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्यादि ६ षड्विकारों को अर्थात् इन अरिषड्वर्गों को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहिये। ये लोग इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके ही सिद्ध को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके विपरीत राजधर्म का पालन करने वाले राजाओं के लिये तो इनकी आवश्यकता रहती है। साथ ही साम, दाम, दण्ड, भेद आदि के आधार पर राजा भी शत्रुओं को नष्ट करके शान्ति रूप सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। मुनि को शम प्रधान होना चाहिए और राजा को शान्ति के साथ उग्र होना भी आवश्यक होता है क्योंकि बिना इसके आदर और भय नहीं होते॥४२॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता॥४३॥

अन्वय—चेत्, धामवतां, पुरःसराः, यशोधनाः भवादृशाः, (जनाः) सुदुःसहम् ईदृशं, निकारम् प्राप्य, रतिम् अधिकुर्वते (तदा) हन्त! मनस्विता, निराश्रया (सती) हता॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्यान्तरम्—चेद् धामवतां पुरः सरैः यशोधनैः, भवादृशैः ईदृशं सुदुःसहं निकारं प्राप्य रतिः अधिक्रियते तदा हन्त, मनस्वितया निराश्रितया हतया भूयते ॥

पुर इति । किं च धामवतां तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यार्थः । पुरः सरन्तीति पुरःसरा अग्रेसराः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषुसर्तेः' इति ट प्रत्ययः । यशोधनाः भवादृशाः सुदुहमतिदुःसहमीदृशमुक्तप्रकारं पराभवं प्राप्य रतिं सन्तोषमधिकुर्वते चेत्तर्हि । हन्त इति खेदे । मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितताया इत्यर्थः । अतः पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रहसने' इत्यात्मनोपदं न भवति । प्रहसनं परिभवः इति काशिका । तथाप्यस्याकर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः—' इत्यात्मेनपदं प्रसिद्धम् ॥

अर्थ—यदि आपके समान तेजस्वियों में अग्रगण्य कुलीन तथा यशस्वी लोग इस प्रकार शत्रुओं से तिरस्कृत होकर भी शान्ति और क्षमा को धारण करके सन्तोष कर लेते हैं तो बेचारी स्वतन्त्रता निरवलम्ब होकर मानो समाप्त ही हो जायगी। उसको कहीं पर भी स्थान नहीं मिलेगा।

व्याख्या—चेत्=यदि, धामवताम्=तेजस्विनाम् (तेजस्वियों के) पुरः सराः अग्रेसराः (अग्रगण्य, श्रेष्ठ आगे गिने जाने वाले) यशोधनाः=कीर्तिधनाः (यश रूपी धन वाले) भवादृशाः=त्वादृशाः (आपके समान) सुदुःसहम्=अतिकठिनम्। (अत्यन्त कठोरता सहन करने के अयोग्य) ईदृशम्=एवंविधम् (इस प्रकार के) निकारम्=अपमानम् (शत्रु से प्राप्त अपमान को) प्राप्य=लब्ध्वा (प्राप्त करके) रतिम्=सन्तोषम (स्नेह सन्तोष को) अधिकुर्वते=स्वीकुर्वन्ति (स्वीकार करते हैं) तदा हन्त=देखे (दुःख है कि) मनस्विता=स्वतन्त्रता (मानवता) निराश्रया=आश्रयरहिता (अवलम्बन रहित होती हुई) हता=नष्टा। (नष्ट हो गई)।

व्याकरणम्—चेत्=पक्षान्तर को व्यक्त करने के लिए चेत् और यदि शब्द का प्रयोग होता है "पक्षान्तरे चेद् यदि च" इत्यमरः। चिति धातु से चेतति इस अर्थ में सूत्र "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" ३।२।७५ से विच् प्रत्यय होकर चेत् सिद्ध होता है।

धामवताम्—धाम अस्ति एषाम् इति धामवन्तः तेषाम् धामवताम्। दधाति धीयते वा इस विग्रह में उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्यो मनिन्" से मनिन् प्रत्यय होकर धामन् होता है "धाम शक्तौ प्रभावे च तेजो मन्दिरजन्मसु" इति विश्वः। पुनः अस्ति एषां इस विग्रह में "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" ५।२।९४ में मतुप् प्रत्यय होकर धामवत् होता है। पुनः "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" ५।२।९ सें मतुप् के 'म' को 'व' होकर धामवत् षष्ठी में धामवताम् होता है। सूत्र का अर्थ है मान्त अथवा अवर्णान्त मकारोपध तथा अकारोपध शब्दों से यवादिगणीय शब्दों को छोड़कर मतुप् के 'म' को 'व' हो जाता है। यहाँ पर धामन् में उपधा में अवर्ण है।

पुरःसराः—पुरः सरन्ति इति पुरः सराः। यहाँ पर पूर्व+ङि सप्तम्यन्त अर्थ में "पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्" ५।३।३९ (अर्थात् असि प्रत्यय के योग में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्व, अधर और अवर के स्थान पर क्रमशः पुर् अध् और अवस् होते हैं) सूत्र से यहाँ पर असि प्रत्यय और पूर्व को पुर् आदेश हो जाता है तब पुरस् होता है, पुरस् उपपद रहने पर 'सृ' धातु से "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" ३।२।१८ से 'ट' प्रत्यय होकर पुरःसरः यह रूप होता है। "पुरोगाग्रेसरप्रष्ठाग्रतःसरपुरःसराः। पुरोगामी पुरोगमः" इत्यमरः।

यशोधनाः—यशः एव धनम् येषां ते यशोधनाः।

भवादृशाः—भवन्तमिव पश्यन्ति आत्मानम् इति भवादृशाः। देखिये विशेष श्लोक २८।

ईदृशम्—इदमिव पश्यन्ति जनाः एतम् ईदृशम्। इदमिव आत्मानं पश्यति इति ईदृशम्। इदम् पूर्वक दृश् धातु से "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" ३।२।६० सूत्र से कञ् प्रत्यय हो जाता है। तब इदम्+दृश्+कञ् होने पर "इदंकिमोरीश्की" ६।३।९० से इदम् शब्द के स्थान पर ईश् आदेश होकर ईश्+दृश्+कञ् होता है तो ईदृशम् यह रूप सिद्ध होता है। क्स प्रत्यय होने पर ईदृक्षम् यह रूप होगा।

सुदुःसहम्=सु अतिशयेन दुःसहं सुदुःसहम्। दुर् उपसर्ग पूर्वक सह मर्षणे धातु से "ईषद् दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" ३।३।१२६ से खल् प्रत्यय होकर सुदुःसहम् सिद्ध होता है। यह सुदुःसहम् निकारम् का विशेषण है।

निकारम्=नि पूर्वक कृ+धातु से घञ् प्रत्यय होकर निकारम् होता है। कोश के अनुसार इसका अर्थ अपमान तथा धान निकाना होता है। यहाँ पर अपमान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "निकारो हि हिरस्कारोऽपमानः पराभवः" "निकारः स्यात् परिभवे धान्यस्योत्क्षेपणेऽपि च" इति धरणिः।

प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा—ल्यप्=प्राप्य।

रतिम्=रम् धातु से क्तिन् प्रत्यय रति, द्वितीया-एकवचन में रतिम्।

अधिकुर्वते अधि उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से लट् प्रथम पुरुष बहुवचन अ अते अधिकुर्वते। यद्यपि 'अधेः प्रसहने' १।३।३३ इस सूत्र से अधिपूर्वक कृ धातु से तभी आत्मनेपद होता है जब प्रसहन अर्थ रहे। यहाँ पर प्रसहन अर्थ का अभाव है अतः आत्मनेपद नहीं होना चाहिए, क्योंकि काशिका में भी "नुसहनं परिभवः" यह कहा गया है। वैसे भी 'सह' धातु का अर्थ मर्षण तथा अभिभव होता है इन सभी कारणों से आत्मनेपद नहीं होना चाहिये। फिर भी "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" १।३।७२ से कर्तृ-अभिप्राय में आत्मनेपद हो गया है।

हन्त—"हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः" इत्यमरः। इसके अनुसार हन्त शब्द का प्रयोग खेद.अर्थ में होता है। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी इसका प्रयोग किया जाता है जैसा कि ऊपर कहा है। मेदिनीकोश के अनुसार भी "हन्त वाक्यारम्भखेदविषादहर्षसंभ्रमे" इति॥

मनस्विता—प्रशस्तं मनुः अस्ति एषाम् इति मनस्विनः मनस्विनो भावः मनस्विता॥ मनस् शब्द से "अस्मायामेधास्रजो विनिः" ५।२।१४१ से विनि प्रत्यय होकर मनस्विन् सिद्ध होता है। मवस्विनो भावः इस अर्थ में "तस्य भावस्त्वतलौ"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५।१।११९ से तल् प्रत्यय हुआ है। तल् प्रत्यय स्त्रीलिंग का बोधक होता है, अतः मनस्विता यह प्रयोग किया गया है। "महत्कार्ये कृतोद्योगो विघ्नैराहतमानसः। प्रारब्धं न त्यजति यः स मनस्वीति कथ्यते॥" जो मनुष्य अपने द्वारा किये जाते हुए श्रेष्ठ कार्यों में सतत प्रयत्नशील रहता है और विघ्नों के द्वारा अनेकों बार हतोत्साह होने पर भी विघ्नों को पार करता हुआ अपने प्रारम्भ किये गए महत्कार्य को कभी नहीं छोड़ता उसे मनस्वी कहा जाता है ॥४३॥

निराश्रयाः—निर्गतः आश्रयो यस्याः सा निराश्रया।

हत—हन्+क्त+टाप् हता।

छन्द—वंशस्थ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास। वैधर्म्य से समर्थन होने के कारण यह अलंकार है।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अन्वय—अथ, निरस्तविक्रमः (सन्), चिराय, सुखस्य, साधनं, क्षमाम्, एव, पर्येषि, (तदा) लक्ष्मीपतिलक्ष्म, कार्मुकं, विहाय, जटाधरः, सन्, इह, पावकं, जुहुधि॥

वाच्यान्तरम्—अथ निरस्तविक्रमेण सता त्वया चिराय सुखस्य साधनम् क्षमा एव परीयते। तदा लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरेण सता त्वया इह पावकः हुयताम्॥

अथेति। अथ पक्षान्तरे। निरस्तविक्रमः सन्। चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव। 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। सुखस्य साधनं पर्येष्यवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय। धरतीति धरः पचाद्यच्। जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने। पावकं जुहुधि पावके होमं कुर्वित्यर्थः। अधिकरणे कर्मत्वोपचारः। विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः 'हुझल्भ्यो हेर्धिः'॥

अर्थ—यदि आप पराक्रम को छोड़कर केवल क्षमा व शान्ति को ही सुख और मनोरथ-सिद्धि का साधन समझते हैं तो आप राजचिह्न स्वरूप इस धनुष को दूर कर जटा बढ़ा करके जंगल में मुनियों के समान अग्नि में हवन कीजिए।

व्याख्या—अथ=यदि निरस्तविक्रमः=उत्साहहीनः (उत्साह से रहित होते हुये) चिराय=बहुकालेन (बहुत दिनों तक) सुखस्य=आनन्दस्य (आनन्द का) साधनम्=कारणम् (कारण, सहायक) क्षमाम् एव=शान्तिम् निश्चयेन (निश्चयपूर्वक शान्ति को ही) पर्येषि=जानासि (जानते हो) लक्ष्मीपतिलक्ष्य=राजचिह्नम् (राजाओं के चिह्नरूप) कार्मुकम्=धनुः (धनुष को) विहाय=परित्यज्य (छोड़ करके) जटाधरः सन्=जटिलो भूत्वा तापसः सन् (बड़े-बड़े बाल बढ़ाकर तपस्वी होकर) इह=अत्रैव (इसी अरण्य में) पावकम्=अग्निम् (अग्नि में) जुहुधि=होमं कुरु (हवन करो)॥

व्याकरणम्—अथ=अर्थ्यते इति अथ। याच्ञायाम् धातु से यहाँ ड प्रत्यय होकर "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" सूत्र से 'र' का लोप हो जाता है। (ड) प्रत्यय का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधान "अन्येष्वपि दृश्यते" ३।२।१०१ सूत्र से होता है। यद्यपि यह सूत्र 'जनी' प्रादुर्भावे धातु से ही 'ड' प्रत्यय करता है फिर भी सूत्र में अपि ग्रहण से यह ज्ञात होता है कि औरों से भी ड प्रत्यय होता है "अपिशब्दः सर्वोपधिव्यभिचारार्थः। तेन धात्वन्तरादपि कारकान्तरेष्वपिक्वचित्" भट्टोजिदीक्षित। इस प्रकार इस सूत्र के नियम से "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" यह वार्तिक भी गतार्थ हो जाता है। अथ शब्द अनेकार्थक है "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्र्न्येष्वथो अथ" इत्यमरः। अथाथो संशये स्यातामधिकारे च, मङ्गले। विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये" इति मेदिनी।

निरस्तविक्रमः—निरस्तः विक्रमो येन सः निरस्तविक्रमः। निरस्यते इति निरस्तः निर् उपसर्ग पूर्वक 'असु' से धातु ३।२।१०२ से क्त प्रत्यय होकर निरस्तः होता है। "प्रत्यादिष्टो निरस्तः स्यात्प्रत्याख्यातो निराकृतः" इत्यमरः। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी निरस्त शब्द का प्रयोग होता है; जैसे निरस्तः प्रेषितशरे सत्यक्ते त्वरितोदिते। निष्ठ्यूते प्रतिहते च" इति हैमः॥

विक्रमः—विक्रमणम् इति विक्रमः वि पूर्वक क्रमु धातु से 'भावे' ३।३।१८ से घञ् प्रत्यय होकर विक्रमः होता है। "विक्रमस्तु अतिशक्तिता" इत्यमरः। "विक्रमस्तु पुमान् क्रान्तिमात्रे स्यात् शक्तिसंपदि" इति मेदिनी। "विक्रमः शक्तिसंपत्तिः क्रान्तिमात्रं च विक्रमः" इति धरणिः॥

चिराय—चिरम् अयते इति चिराय। चिर पूर्वक अय् धातु "कर्मण्यम्" ३।२।१ से अण् प्रत्यय होकर चिराय होता है। 'चिराय चिररात्रायचिरस्याद्याश्चिरार्थकाः'॥

क्षमा—क्षमणम् क्षमा क्षमूष् सहने धातु से "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" ३।३।१०४ से अङ् प्रत्यय स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् क्षमा। क्षितिक्षान्त्योः क्षमा" इत्यमरः। सुखस्य =शोभनानि खानि अनेन इति सुखम् तस्य सुखस्य। 'सुख तत्क्रियायां' धातु से भाव में वार्तिक भयादीनामुपसंख्यानम् नपुंसके क्तादिनिवृत्त्याम् ३।३।५६ से अच् प्रत्यय होता है। 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्ष। प्रमोदामोदसंमदाः। शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः।

साधनम्—साधयति इति साधनम्। भावकर्मकरणादौ ल्युट् इति ल्युट् प्रत्ययसाधनम्॥

पर्येषि—परि उपसर्ग इण् गतौ धातु लट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन सि प्रत्यय 'इण्कोः' ८।३।५७ से षत्व होता है।

लक्ष्मीपतिलक्ष्म—लक्ष्म्याः पतिः लक्ष्मीपतिः लक्ष्मीपतेः लक्ष्म लक्ष्मीपतिलक्ष्म। लक्ष्यति पश्यति नीतिज्ञम् इस विग्रह में 'लक्ष' धातु से उणादि सूत्र 'लक्षेमुट् च' से मुट् का आगम तथा ई प्रत्यय होकर लक्ष्मीः सिद्ध होता है। यह उणादि से सिद्ध होता है। इस कारण इसके प्रथमा एकवचन में 'सु' का लोप कभी नहीं होता है, जिसका निर्देश "अवीतन्त्रीतरीलक्ष्मीधीह्रीश्रीणामुणादितः। अपि स्त्रीलिंगवृत्तीनां सोर्लोपो न कदाचन"। अर्थात् उपर्युक्त शब्दों के सु प्रत्यय का लोप कभी नहीं होता। "लक्ष्मीः संपत्तिशोभयोः" इति मेदिनी। लक्ष्यते अनेन इस विग्रह में 'लक्ष्' धातु से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्यो मनिन्" से मनिन् प्रत्यय होकर 'लक्ष्मन्' एकवचन में लक्ष्म होता है। "कलङ्काङ्को लाञ्छनं च चिह्नं" लक्ष्म च लक्ष्मणम्। "लक्ष्म प्रधान-चिह्नयोः" इत्यमरः। यह लक्ष दर्शनाङ्कनयोः धातु से सिद्ध होता है।

कार्मुकम्—कर्मणे प्रभवति इति कार्मुकम्। कर्मन् शब्द से "कर्मण उकञ्" ५।१।१०३ से उकञ् प्रत्यय होकर कार्मुकम् सिद्ध होता है। 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्" इत्यमरः। "वंशे कार्मुकमिष्वासे कर्मठे" इति हैमः। "धनुर्ना कार्मुकं चापे" इति कोशः। "शरासनं कार्मुकं च चापं धनुरुदीर्यते" इति कोशः।

विहाय—वि+हा=क्त्वा—ल्यप्=विहाय।

जटाधरः=धरति इति धरः 'जटानां धरः जटाधरः कर्मसंज्ञक द्वितीया समास अर्थात् जटाः धरतीति विग्रह करने पर "कर्मण्यण्" सूत्र से अण् प्रत्यय हो जायगा अण् प्रत्यय होने के फलस्वरूप जटाधारः प्रयोग बनेगा न कि जटाधरः, इस कारण षष्ठी समास किया गया। धृ धातु से अच् प्रत्यय करने पर धरः होता है। जायन्ते इस अर्थ में उणादि सूत्र 'जवेष्टन् लोपश्च' से टन् प्रत्यय तथा धातु के अन्त्य का लोप होकर जटा अथवा जटति अर्थ में जट् संघाते धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय स्त्रीत्व में टाप् जटा। 'व्रतिनस्तु जटा सटा' इत्यमरः। "जटा लग्नकचे मूले मास्यां प्लक्षे पुनर्जटी" इति मेदिनी॥

पावकम्=पुनाति इति पावकः तम् पावकम्। पूञ् धातु से "ण्वुल्तृचौ" ३।१।१३३ से ण्वुल् प्रत्यय होकर वु को 'अक' होकर पावकम्। यहाँ पर कर्मत्व की विवक्षा होने पर अधिकरण के स्थान पर द्वितीया विभक्ति हुई वैसे यहाँ सप्तमी होनी चाहिये थी। मल्लिनाथ ने भी अधिकरणे कर्मत्वोपचारः" कहा है॥

जुहुधि—हु धातु लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन 'हुझल्भ्यो हेर्धि' से हि के स्थान पर धि आदेश हो गया ॥४४॥

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥४५॥

अन्वय—निकृतिपरेषु, परेषु भूरिधाम्नः ते समयपरिक्षणं, न क्षमम्। हि विजयार्थिनः क्षितिशाः अरिषु सोपधि, सन्धिदूषणानि, विदधति॥

वाच्यान्तरम्—निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ते तव समयपरिरक्षणेन नहि क्षमेण भूयते। हि विजयार्थिभिः क्षितीशैररिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विधीयन्ते॥

नेति। परेषु शत्रुषु। निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु तथोक्तेष्वकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारणमस्य ते तव समयस्त्रयोदश संवत्सरान् वने वत्स्यामीत्येवरूपा संवित्। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षणं न युक्तम्। 'युक्ते क्षणं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद्व्याजेन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोषमापाद्य सन्धिं दूषयन्ति। विघटयन्तीत्यर्थः। शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥

अर्थ—सदैव कपटपूर्ण व्यवहार करने वाले शत्रुओं से समय की प्रतीक्षा करते रहना ठीक नहीं क्योंकि विजय की इच्छा रखने वाले राजा लोग कपट से शत्रुओं को सन्धि को तोड़कर उन्हें नष्ट करने का प्रयास करते रहते हैं ॥

व्याख्या—निकृतिपरेषु=अपकारतत्परेषु (अपकार करने के लिए तत्पर) परेषु=शत्रुषु (शत्रुओं पर) भूरिधाम्नः=महौजसः (अत्यन्त तेज वाले) ते=तव (आप युधिष्ठिर का) समयपरिरक्षणम्=कालप्रतीक्षाकरणम् (समय की प्रतीक्षा करना) न क्षमम्=न युक्तम् (उचित नहीं है) हि=यतः (क्योंकि) विजयार्थिनः=विजिगीषवः (विजय की इच्छा रखने वाले) क्षितिशाः=राजानः (राजा लोग) अरिषु=रिपुषु (शत्रुओं पर) सोपधि=सकपटम् (किसी न किसी कपट से) सन्धिदूषणानि=सन्धिषदोषान् (सन्धियों के दोष को) विदधति=उपस्थापयन्ति (उपस्थित कर देते हैं)।

व्याकरणम्—परेषु पिपर्ति रोषम् इति परः तेषु परेषु। पृ धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय हो जाता है।

निकृतिपरेषु—निकृतिः परं प्रधान येषु ते निकृतिपराः तेषु निकृतिपरेषु। निकृष्ट कृतिः क्रिया निकृतिः। नि पूर्वक कृति छेदने धातु से "इणकृष्यादिभ्यः" वार्तिक ३।३।१०८ से इक् होकर निकृतिः। "कुसृतिः निकृतिः शाठ्यम्" इत्यमरः। "निकृतिः भत्सने शेषे शठे शाठ्येऽपि च स्त्रियाम्" इति मेदिनी। "परः श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीबन्तु केवल" इति मेदिनी। "दूरानात्मोत्तमाः पराः" इत्यमरः। परेषु में सप्तमी का विधान "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" २।३।३७ (अर्थात् जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित हो उससे सप्तमी विभक्ति आती है) से भाव में सप्तमी विभक्ति हुई।

भूरिधाम्नः—भूरि धाम यस्य सः तस्य भूरिधाम्नः। भवति भूयते इति भूरि। भू धातु से उणादि सूत्र "अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्" से क्रिन् प्रत्यय क् तथा न् का लोप होकर भूरि होता है। "प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु। पुरुहं पुरु भूयिष्ठं स्फिरं भूयश्च भूरि च" ॥ इत्यमरः। इसके अतिरिक्त भूरि शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों के लिए भी किया जाता है। "भूरि स्याद् प्रचुरे स्वर्णे'; इति हैमः। "भूरिर्ना वासुदेवे च हरे च परमेष्ठिनि। नपुंसकं सुवर्णे च प्राज्ये स्याद् वाच्यलिङ्गकः"। इति मेदिनी। दधाति धीयते वेति धामन् उणादि सूत्र "सर्वधातुभ्यो मनिन्" से मनिन् प्रत्यय होकर धामन् होता है "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः। "धाम शक्तौ प्रभावे च तेजो मन्दिरजन्मसु" एति विश्वः।

समयपरिरक्षणम्—समयस्य परिरक्षणम् समयपरिरक्षणम्। सम्यग् एति, समीयतेऽत्र, अनेन, समेति वा समयः। सम् पूर्वक इण् गतौ धातु से "पुंसि संज्ञायां घः" ३।३।११८ से घ प्रत्यय अथवा "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो" ३।१।१३४ से अच्प्रत्यय समयः। "कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽपि। समयाः शपथाचार-काल-सिद्धान्तसंविदः"।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यमरः। "समयः शपथे भाषासंपदोः कालसंविदोः। सिद्धान्ताचारसंकेतनियमावसरेषु च ॥ क्रियाकारे निदेशे च"। इति कोशः। "समयः शपथाचार सिद्धान्तेषु तथा धिमि। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालाभावयोः:"। इति मेदिनी ॥ परि+रक्ष्+ल्युट्= परिक्षणम् ॥

क्षमम्—क्षमते क्षम्यते वा इति क्षमम्। क्षमूष् सहने धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो" ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय होने पर क्षम होता है और "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" ३।३।१९ से घञ् प्रत्यय होने पर क्षमम् होता है यहाँ पर घञ् प्रत्यय होने पर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" ७।३।३४ से वृद्धि का निषेध हो जाता है। युक्त अर्थ में क्षमम् मान्त प्रयुक्त होता है और वह अव्यय माना जाता है ऐसा कुछ का मत है। "युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु" इत्यमरः। "क्षमा तितिक्षा पृथिवी च योग्ये शक्ते हिते क्षमम्" इति मेदिनी ॥

हि—हिनोति इति हि गतौ धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" ३।२।७५ से विच् प्रत्यय सर्वापहारी लोप संज्ञापूर्वकत्वान्न गुणः। "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" ३।४।१७ से क्विप् प्रत्यय तुक् का अभाव हो जायगा। "हि हेतावववधारणे" इत्यमरः। यहाँ पर हि शब्द का अर्थ कारण लिया गया है। इसके अन्य अर्थ भी होते हैं। जैसे—"हि पादपूरणे हेतौ विशेषेऽप्यवधारणे। प्रश्न हेत्वपदेशे च संभ्रमासूययोरपि" इति मेदिनी। पाद-पूर्ति के लिये भा ही का प्रयोग किया जाता है।

विजयार्थिनः—विजयम् अर्थयन्ते इति विजयार्थिनः। विजय पूर्वक अर्थ धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" ३।१।१३४ से णिनि प्रत्यय होकर अर्थिन् होता है और विजय में वि+जि+अच्=विजयः।

क्षितीशाः—क्षितेः ईशा क्षितीशाः। यहाँ पर "कर्तृकर्मणोः कृति" १।२।६५ से कृदन्त के योग में षष्ठी होकर तब समास हुआ है। अधीगर्थदयेशां कर्मणि" २।३।५२ से षष्ठी होने पर समास न होता। क्षियति इति क्षितिः। क्षि निवासगत्योः धातु से "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" ३।३।१७४ से क्तिच् प्रत्यय होकर क्षितिः होता है। "धरणी क्षोणी ज्या काश्यपी क्षितिः" इत्यमरः। "क्षितिर्गेहे भुवि क्षये" इति हैमः। ईष्टे इति ईश् ऐश्वर्ये धातु से "इगुपधाज्ञाप्रीकिरः कः" ३।१।१३५ से क प्रत्यय होकर ईशः सिद्ध होता है। "ईशः स्वामिनि रुद्रे च स्वाद्वीके हलदण्डके" इति कोशः। हल के दण्ड को भी ईशा कहते हैं। यहाँ पर स्वामी के अर्थ में ईशा का प्रयोग किया गया है।

अरिषु—इर्यति विरोधम् इति अरिः तेषु अरिषु। ॠ गतौ धते से उणादि सूत्र "अच इः" से इ प्रत्यय अरिः। "रिपौ वैरिसपत्नारि" इत्यमरः।

सोपधि—उपधीयते इति उपधिः उपधिना सहितं सोपधि यथा स्यात् तथा। समास होने के अनन्तर "वोपसर्जनस्य" ६।३।८२ सूत्र से सह के स्थान पर विकल्प से 'स' होकर सोपधि तथा सहोपधि यह दोनों रूप बनते हैं। उप पूर्वक धातु रहने पर "उपसर्गे घोः किः ३।३।९२ से कि प्रत्यय होकर उपधिः सिद्ध होता है। "कपटोऽस्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याजदम्भोपधयश्छद्मकेतवे" इत्यमरः। "उपधिः व्याजचक्रयोः" इति॥

सन्धिदूषणानि—सन्धेः दूषणानि सन्धिदूषणानि तानि सन्धिदूषणानि। सन्धीयते इति सन्धिः। सम् उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से "उपसर्गे घोः किः" ३।३।९२ से कि प्रत्यय सन्धि। दूषयति इति दूषणम् तानि दूषणानि। दुष् धातु णिजन्त से ल्युट् प्रत्यय होकर दूषणम् सिद्ध होता है। यहाँ पर सूत्र 'दोषो णौ' ६।४।९० से णि परे रहने पर दुष् धातु की उपधा को अत् हो जाता है तब दोषणम् यह सिद्ध होता है।

छन्द—पुष्पिताग्रा। "अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" अर्थात् जिस पद्य के पहले और तीसरे चरण में क्रमशः नगण नगण रगण यगण हों और दूसरे तथा चौथे में नगण जगण जगण रगण और एक गुरु हो उसे पुष्पिताग्रा छन्द कहते हैं।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास। यहाँ पर 'आपको प्रतिज्ञा की रक्षा करना 'उचित नहीं' विशेष कथन का 'विजयेच्छुक लोग सन्धि-भंग कपटपूर्वक कर देते हैं, इस सामान्य कथन से समर्थन किया है। परेषु में यमक भी है। अनुप्रास भी कहीं-कहीं पर है। इन सभी कारणों से तिलतण्डुलवत् न्यायानुसार संसृष्टि है॥४५॥

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥४६॥

अन्वय—लक्ष्मीः विधिसमयनियोगात्, दीप्तिसंहाजिह्मं शिथिलवसुम्, अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम्, दिनादौ, रिपुतिमिरम्, उदस्य, उदीयमानम्, दिनकृतम्, इव, त्वाम्, भूयः, समभ्येतु॥४६॥

वाच्यान्तरम्—लक्ष्म्या विधिसमयनियोगात् दीप्तिसंहारजिह्मः शिथिलवसुः आगधे आपत्पयोधौ मग्नः रिपुतिमिरमुदस्य दिनादौ उदीयमानः त्वं दिनकृत् इव समभीयस्व॥

विधीति—विधिर्दैवम्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। समयः कालस्तयो-र्नियोगान्नियमनाद्धेतोः। तयोर्दुरितक्रमत्वादिति भावः। अगाधे दुस्तरे। आपत्पयोधि-रिवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम् 'सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्यु रुन्मज्जतीत्यागमः। दीप्ति प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्मम् प्रसन्नम्। शिथिलवसुं शिथिलधनमन्यत्र शिथिलरश्मिम् वसुदेवेऽग्नौ रश्मौ च 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। शिथिलबलमिति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः। रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्योदीयमानमुद्यन्तम्। 'ईङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि शानच्। त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीर्भूयः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समभ्येतु भजतु । 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट् । चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः । यथाह भगवान् भाष्यकारः "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति" इति पूर्णोपमेयम् । मालिनीवृत्तम् । सर्गान्तत्वाद्वृत्तनंदः । यथाह दण्डी "सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्" ।। इति ।।

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति-इतीत्यादि । इति शब्दः परिसमाप्तौ । भारविकृताविति कविनामकथनम् महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्ति सूचिता । किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययाः कथनम् । प्रथमः सर्गं समाप्त इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् । 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छ प्रत्ययः । राघवपाण्डवीयमितिवत् । तथापि अर्जुन एवात्र नायकः । किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः । यथाह दण्डी—'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि । 'तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' इति । अथात्र संग्रहः 'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः । श्रृंगारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्' इति ।। ४६ ।।

अर्थ—जैसे भाग्य तथा समय के प्रभाव से कान्ति के नाश होने के कारण दुखी और प्रकाशरहित, सायंकाल विपत्ति रूपी अथाह महासागर में डूबे हुए मन्द किरणों वाले प्रातःकाल होने पर अन्धकार रूपी शत्रु का विनाश करके उदित होते हुए सूर्य के पास दिन रूपी लक्ष्मी स्वयम् आ जाती है उसी प्रकार विधि और समय के प्रभाव से अपने विचार और तेज के प्रभाव से दुरवास्था को प्राप्त अथाह समुद्र के समान आपत्ति में फँसे हुए तथा तेज के विनाश से शिथिल धन वाले और शत्रुओं को नष्ट कर अभ्युदय की रक्षा रखने वाले आपको लक्ष्मी पुनः प्राप्त हो ।।

व्याख्या—लक्ष्मीः=राज्यलक्ष्मीः तेजः श्रीः (राज्यलक्ष्मी तथा तेज रूपी कान्ति) विधिसमयनियोगात्=दैववशात् (भाग्य और समय के प्रभाव से) (संध्या हो जाने के कारण) दीप्तसंहारजिह्मम्=तेजोविनाशखिन्नम्, कान्तिहानिखिन्नम् (तेज के नाश से शिथिल, शोभा की समाप्ति से प्रकाशरहित) वसुम्=मन्दकिरणम्, नष्टधनम् (मन्द किरणों वाले, नष्ट धन वाले) अगाधे=दुस्तरे, अतलस्पर्शे (अथाह, तल का स्पर्श न करने वाले) आपत्पयोधौ=विपत्समुद्रे विपदर्णवे (विपत्ति रूपी समुद्र में, सायंकाल पश्चिमपयोधि में अस्त हुए) मग्नम्=निपतितम् (डूबे हुये) दिनादौ==प्रभाते, शुभसमयावसरे (प्रातःकाल, (शुभ कल्याण कारक सुन्दर समय के आ जाने पर) रिपुतिमिरम्=वैरिरूपान्धकारम्, शत्रुसमूहम् (शत्रु रूपी अन्धकार को, शत्रुओं के समूह को) उदस्य=दूरीकृत्य (नष्ट करके, दूर करके) उदीयमानम्=

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उद्यन्तम्, (उदय होते हुये, उन्नति को अभिमुख) दिनकृतमिव=सूर्यमिव (सूर्य के समान) त्वाम्=भवन्तम् युधिष्ठिरम् (आप युधिष्ठिर को) भूयः=पुनः (फिर से) समभ्येतु=भजतु, गच्छतु (प्राप्त होवे) ॥ ४६ ॥

व्याकरणम्—विधिसमयनियोगात्—विधिश्च समयश्च विधिसमयौ, विधिसमययोः नियोगः विधिसमयनियोगः तस्मात् विधिसमयनियोगात् । विधिः—विधत्ते इति विधिः । वि उपसर्ग पूर्वक धातु 'धा' धारणपोषणयोः से "उपसर्गे घोः किः" ३।३।९२ से कि प्रत्यय होकर विधिः सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त विध् विधाने धातु से उणादि सूत्र "इगुपधात्कित्" से इन् प्रत्यय होकर भी विधि सिद्ध होता है । "विधाता विश्वसृड्विधिः" इत्यमरः । इसके अतिरिक्त भी विधिशब्द का प्रयोग किया जाता है "विधिर्ब्रह्मविधानयोः । विधिर्वाक्ये च दैवे च प्रकारे कालकल्पयोः" ॥ "विधिर्ना नियतौ काले विधाने परमेष्ठिनि" इति मेदिनी । "विधिर्विधाने दैवेऽपि" इत्यमरः । विधि शब्द का प्रयोग भाग्य अर्थ में भी होता है ।

नियोगात्—नियोजनम् इति नियोगः तस्मात् नियोगात् । नि उपसर्गपूर्वक युजिर् योगे धातु से "भावे" ३।३।१८ सूत्र से घञ् प्रत्यय नियोगः यह पद सूर्य तथा युधिष्ठिर दोनों के पक्ष को व्यक्त करता है ।

अगाधे—गाध्यते इति गाधः । नास्ति गाधः स्थितिरत्र अगाधः तस्मिन् अगाधे; यहाँ पर "नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" २।२।२४ वार्तिक से समास बहुव्रीहि उत्तर पद का लोप हो जाता है "अगाधमतलस्पर्शे" इत्यमरः ।

आपत्पयोधौ—पयांसि धीयन्ते अस्मिन्निति पयोधिः, आपात् पयोधिरिव इति आपत्पयोधिः तस्मिन् आपत्पयोधौ । यहाँ उपमित समास "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" २।१।५६ से हुआ है । आङ्पूर्वक पद्लृ धातु से "संपदादिभ्यः क्विप्" ३।३।११८ वार्तिक से क्विप् प्रत्यय होकर आपत् हुआ । "विपत्तौ विपदापदौ" इत्यमरः । पयस्+धा "उपसर्गे घोः किः" ३।३।९२ से कि प्रत्यय होकर पयोधि सिद्ध होता है ।

मग्नम्—मस्ज् धातु से क्त प्रत्यय मस्ज्+त यहाँ पर "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" ८।२।२९ से 'स' का लोप होकर त को न तथा ज को कुत्व 'ग्' हो जाने पर मग्नम् सिद्ध होता है ॥ "ओदितश्च" ८।२।४५ 'त' को न हो जायगा और "चोःकुः" ८।२।३० से 'ज' को ग हो जायगा ॥

दीप्तिसंहारजिह्मम्—दीप्तेः संहारः दीप्तिसंहारः दीप्तिसंहारेण जिह्मः दीप्तिसंहारजिह्मः तम् दीप्तिसंहारजिह्मम् । दीप्तिः—दीप्यते अनया इति दीप्तिः दीप् दीप्तौ धातु से वार्तिक "क्तिन्नवादिभ्यः" ३।३।९३ से क्तिन् प्रत्यय होता है, "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः" इत्यमरः । संहार—हरणम् हरः, "भावे" ३।३।१८ से घञ् प्रत्यय । सम्यक् हारोऽत्र संहारः । जिह्मम्—जहाति हीयते वा ओहाक् त्यागे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धातु से उणादिसूत्र "जहातेः सन्वदालोपश्च" से मन् प्रत्यय होकर जिह्म होता है। "जिह्मस्तु कुटिले मन्दे -जिह्मं तगरपादपे" इति मेदिनी "जिह्मस्तु कुटिलेऽलसे" इत्यमरः।

शिथिलवसुम्—शिथिलानि वसूनि यस्यासौ शिथिलवसुः तम् शिथिलवसुम्।

वसु—वसति इति वसु। वस् निवासे धातु से उणादि सूत्र "शॄ स्वॄ स्निहि त्रपि असि वसि हनि क्लिदि बन्धि निभ्यश्च" से 'उ' प्रत्यय हो जायगा। "वसुस्त्वग्नौ देवभेदे नृपे रुचौ। योक्त्रे शुष्के वसुस्वादी रत्ने वृद्धौषधे धने"॥ "रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः। 'वसतिः' उष्यते वा अस्मिन् इति वसु। "वसुर्मयूखाग्निजनाधिपेषु योक्त्रे सुरे स्याद्वसुहाटके च। वृद्धयौषधस्थानधनेषु रत्ने वसु स्मृतं स्यात् मधुरेऽन्यवच्च" इति विश्वप्रकाशः। "देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु" इत्यमरः। "वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ" इति वैजयन्ती॥

रिपुतिमिरम्—रिपुः तिमिरम् इव इति रिपुतिमिरं तत् रिपुतिमिरम्। रपति दोषम् इति रिपुः रप् व्यक्तायां वाचि धातु से उणादिसूत्र "रपेरिच्चोपधायाः" से उपधा को इत्व तथा 'कु' प्रत्यय होने पर रिपुः होता है "रिपौ वैरिसपत्नारि" इत्यमरः। तिम् धातु से बाहुलकात् किरच् प्रत्यय होकर तिमिरम् "अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः" इत्यमरः।

उदस्य—उत्पूर्वक अस् क्षेपणे धातु से क्त्वा तथा क्त्वा को ल्यप् होकर उदस्य होगा। जिसका अर्थ होता है नष्ट करके॥

दिनादौ—दिनस्य आदिः दिनादिः तस्मिन् दिनादौ।

दिनकृतमिव—दिनं करोति इति दिनकृत् तम् दिनकृतम्।

भूयः—अतिशयेन बहु इस विग्रह में "बहोर्लोपो भू च बहोः" ६।४।१५८ से बहु को भू आदेश हो जाता है। "भूयश्च भूरि च" इत्यमरः। "भूयस्त्रिषु बहुतरे पुनरर्थे कदव्ययम्" इति मेदिनी॥

समभ्येतु—सम्+अभि उपसर्ग इण् गतौ धातु लोट् एकवचन।

छन्द—मालिनी। "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण एक मगण तथा दो यगण हों और ८ और ७ वर्णों के बाद विराम हो उसे मालिनी कहते हैं। प्रत्येक गण तीन अक्षरों का होता है। छन्द शास्त्र में आठ प्रकार के गण माने गये हैं। गणों के ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों को निम्न संकेतों द्वारा व्यक्त किया जाता है। ह्रस्व के लिये 'I', गुरु या दीर्घ के लिए 'S' चिह्न का प्रयोग होता है।

यगण=ISS ; मगण=SSS ; तगण=SSI ; रगण=SIS,
जगण=ISI ; भगण=SII ; नगण=III ; सगण=IIS

'यमाताराजभानसलगम्' ल=लघु; गम्=गुरुः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी नियम के अनुसार इस श्लोक में भी समझना चाहिये।

न	न	म	य	य
।।।	।।।	ऽऽऽ	।ऽऽ	।ऽऽ
विघ्रिस	मयनि	योगाद्दी	प्तिसंहा	रजिह्मम्

संयोग तथा अनुस्वार के पूर्व का दीर्घ अर्थात् गुरु माना जाता है। महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार समाप्ति में छन्द परिवर्तित करना चाहिये यथा "एकवृत्तमयैं पद्यैवसानेऽन्यवृत्तकैः"। दण्डी ने भी कहा है "सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृतैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्"॥

अलंकार—पूर्णोपमा। पूर्णोपमा का लक्षण साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार कहा है "सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्"॥ अर्थात् जहाँ सामान्य धर्म, उपमा वाचक शब्द, उपमेय और उपमान ये चारों वाच्य हों वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है। इसे आचार्य मम्मट ने भी कहा है कि "उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा"। इस श्लोक में उपर्युक्त चारों अंगों का वर्णन किया गया है। यहाँ त्वाम् (युधिष्ठिर) उपमेय, दिनकृतम् उपमान, इव उपमावाचक शब्द, तथा दीप्तिसंहारजिह्मम् मग्नमापत्पयोधौ, रिपुतिमिरम्, उदीयमान आदि साधारण धर्म युधिष्ठिर और सूर्य दोनों में समान रूप से घटित होते हैं। यहाँ श्लेष का आधार भी लिया जाता है अतः पूर्ण श्लोक में श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमालङ्कार है॥४६॥

महाकवि भारवि ने अपने इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है। इसका प्रयोग केवल मंगलविधानार्थ किया गया है, ऐसा मल्लिनाथ भी कहते हैं कि "चमत्कारितमङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्तश्लोकेषुलक्ष्मीशब्द प्रयोगः" अर्थात् प्रत्येक सर्ग के अन्त में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग चमत्कार उत्पन्न करके तथा मंगलाचरण के लिये किया गया है, क्योंकि यह विद्वानों की उस समय परिपाटी थी कि ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त में मंगलाचरण किया जाय, जैसा कि पतञ्जलिकृत महाभाष्य से प्रतीत होता है—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुष काणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति"॥ तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में यदि मंगल युक्त शास्त्र निबद्ध किये जाते हैं तो उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त होती है वे लोगों को वीर एवं चिरजीवी बनाते हैं उनके पढ़ने से पाठक भी शीघ्र ही प्रवक्ता हो जाते हैं, अतः मङ्गल करना चाहिए॥

महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य को 'किरातार्जुनीयम्' नाम से सम्बोधित किया, क्योंकि इसमें किरात रूप शंकर तथा अर्जुन का विशेष वर्णन है अर्थात् किरात और अर्जुन को अधिकृत करके इस काव्य का प्रणयन किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किरातश्च अर्जुनश्च किरातार्जुनौ तौ अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् । यहाँ पर "शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः" से द्वन्द्वार्थ में छ प्रत्यय किया गया है। इस काव्य में अर्जुन ही नायक है, क्योंकि उसी का उत्कर्ष वर्णित किया गया है, किरात का वर्णन तो नायक अर्जुन के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए प्रतिभट के रूप में किया गया है। साहित्यशास्त्रियों का भी यही मत है जैसा कि महाकाव्यशास्त्री दण्डी ने कहा है कि "वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि । तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः" अर्थात् प्रतिभट के वंश, वीर्य, प्रताप आदि का वर्णन कर उस पर नायक की विजय प्रदर्शित करना प्रसन्नता को बढ़ाने वाला होता है ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किरातार्जुनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi